प्रकाशकः—

चिरंजीलाल बड़जात्या,

वर्धा ।

प्रथमावृत्ति : १०००

मूल्य १)

मुद्रकः—

सुमतिप्रसाद जैन

दो शब्द

शैशव काल से ही 'सम्यग्दर्शन' शब्द मेरे कानों में गूंजा और तभी से, किसी न किसी रूप में, मेरे मन-मस्तिष्क पर इस संस्कार की तह पर तह जमायी गई कि संसार में सबसे मूल्यवान जीवन-निधि, धर्म का अंतः प्राण या मोक्ष की कुंजी यही सम्यग्दर्शन है। और फिर जैसे ही कुछ पढ़ने-लिखने लगा, तो सम्यग्दर्शन क्या है, इस सम्बन्ध में अनेक सूत्र व श्लोक मुझे घुटाए गए, अनेक शब्दावलियां रटाई गई। मेरे मस्तिष्क में बार-बार यह परिभाषा ठूसी गई कि सम्यग्दर्शन से अभिप्रेत है 'तत्वों में श्रद्धान'। तत्व भी मुझे गिनाए गए। इतना ही नहीं, फिर तो इन तत्वों को व उनके भेदों-प्रभेदों को लेकर काफी सुनना और पढ़ना पड़ा। आखिर, इस रटी हुई विद्या में परीक्षाएँ दीं और उत्तीर्ण भी हुआ। पर यह सब कुछ होते हुए भी अंतःकरण में, मस्तिष्क-जगत में, उजाला न हो सका, वहाँ घटाटोप अंधेरा ही छाए रहा, क्योंकि जन्मगत या परि-स्थितियों द्वारा आरोपित श्रद्धा नहीं, बुद्धि-विवेक द्वारा स्व-निर्णीत स्व-ग्रहीत विचार ही अंतःप्रकाश का स्रोत बन सकता है। तभी तो

इतना पढ़ा-लिखा, पर खाक समझ में न आया कि सम्यग्दर्शन यथार्थ में है क्या और क्यों इसकी इतनी महिमा गाई गई है। बल्कि, जितना ही अधिक पढ़ा, उतनी ही उलझन बढ़ी, और तब कुछ विचार करने की विवशता ने कचोटा। अतः कुछ सोचा-समझा, कुछ गुरुजनों से चर्चा व वार्तालाप किया, कुछ मित्रों व साथियों से वाद-विवाद चला, और तब, वर्षों के विचार-संघर्ष के पश्चात्, मुझे यह जँचा कि अविवेक ने सम्यग्दर्शन को लेकर अर्थ का अनर्थ किया है, अंध-श्रद्धालुता ने उसे तोड़ा-मरोड़ा और ग़लत रूप में प्रस्तुत किया है। तब यह कटु सत्य छिपा न रहा कि जिस सम्यक्त्व या सत्य को पग-पग पर श्रद्धांजलि दी गई है उसे कैसे ढूँढा जाय, उसे किस प्रकार ग्रहण किया जाय, यह मूल प्रश्न ही उपेक्षा या अवहेलना का विषय बना हुआ है। इससे चुभन हुई, वेदना उठी, वेदना ने सोई हुई प्रेरणा को जगाया और तब मैं कुछ प्रयास कर कर पाया कि सम्यग्दर्शन को इस झमेले से निकाल कर, उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन करूँ। बस, इसी प्रयास का परिणाम यह पुस्तिका है जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

—दिवाकर

श्रीयुत् विश्वम्भरदास-जी गार्गीय

जीवन चरित्र
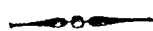
श्रीयुत विश्वम्भरदास जी गार्गीय का जन्म-स्थान छावनी अम्बाला है। वहाँ का जो बड़ा जैन मन्दिर है वह आपके पिता जी का बनाया हुआ है, प्रारम्भ में यह उनका निजी मन्दिर था। इस मन्दिर की शान का भारत में दूसरा मन्दिर नहीं है, बीच में समवशरण की रचना, सबसे ऊँचा शिखर और बड़ा भारी व्याख्यान-भवन तथा एक ओर स्त्री-सभा-भवन, स्वाध्याय-शाला, चारों दिशाओं में चार चैत्यालय बड़े-बड़े शोभनीक हैं। यह दुमंज़िला है, नीचे की दुकानों का किराया मन्दिर के खर्च से भी अधिक आता है।

आपके पिता लाला मुसद्दीलाल जी बड़े धर्मज्ञ, विद्वान, न्याय-परायण, सभा-चतुर, ओजस्वी वक्ता, परोपकारी, लब्ध प्रतिष्ठित, स्वाभिमानी एवम् प्रभाव-शाली रईस थे। किसी का कोई काम हो, बिना आपकी राय लिये नहीं होता था, बड़ी भारी धाक जमी हुई थी। हरचन्दराय मुसद्दीलाल के नाम से आपका फ़र्म विख्यात था। पिता के अनुकूल ही हमारे चरित्र-नायक में सब गुण मौजूद थे। शैशव अवस्था अमीरी लाड़-प्यार में गुज़री, किन्तु होश सँभालते ही

ग़रीबी का सामना करना पड़ा। इससे आप संसार के उतार-चढ़ाव की लीला से परे थे। बहुत सादगी-पसन्द, ग़रीब-परवर, देश-भक्त, परोपकारी, न्याय-नीति-निपुण, गम्भीर, सहिष्णु, परम संतोषी, विचारशील, स्पष्ट व्याख्याता, स्वाभिमानी, धीर, वीर, ओजस्वी वक्ता, प्रतिभा-शाली लेखक और व्यवहार-कुशल सार्वजनिक कार्यों के अनुभवी थे।

आपने बाल्यकाल से व्यापार-वाणिज्य किया है, इसलिये व्यापार नीति को खूब अच्छी तरह समझते थे। आपने बाल्यकाल में स्कूली शिक्षा तो इतनी प्राप्त नहीं की जितनी कि युवा अवस्था प्राप्त होने पर अपने आप अपनी योग्यता बढ़ाई थी। लेख लिखने का शौक़ होने पर अख़बारी लेखों की नक़ल कर करके आप एक अच्छे मौलिक लेखक बन गये, इससे आपने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। सन् १९०५ से १९१५ तक आपने सब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों में लेख लिखे। सन् १९१६ में 'मुनि' मासिक पत्र व सन् १९१९ में 'जाति प्रबोधक' का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया। इन दोनों पत्रों की अन्य पत्रों में बड़ी अच्छी समालोचना निकली। इसके बाद प्रेस के काम में व्यस्त रहने से लिखने पढ़ने का शौक़ मन्द पड़ गया।

सन् १९०८ में आप पर बड़ा वैराग्य सवार था। समाज-सेवा की उत्कट भावना थी। एकाएक इसी वर्ष झाँसी में आपकी सौदागरी दुकान में आग लग गई, एक सुई तक न बची, पाँच हज़ार का नुक़-सान हो गया, जो पूँजी थी सब स्वाहा हो गई। किन्तु इस धक्के से वैराग्य धारण करना उचित न समझ दो वर्ष तक और कुटुम्ब में

रहे। सन् १९१० में आपने समाज-सेवा के लिये घर छोड़ दिया और जैन शिक्षा प्रचारक समिति में जयपुर पहुंच गये, वहाँ समाज-सेवा के लिये अपने को अर्पण कर दिया। एक वर्ष तक इस संस्था में बोर्डिङ्ग के आनरेरी सुपरिन्टेन्डेन्ट व समिति आफ़िस के सुपरिन्टेन्डेन्ट रहे। आप इतने परिश्रमी थे कि रात के दो-दो बजे तक आफ़िस का काम किया करते थे। आप अपनी धुन के बड़े धनी थे, जिस काम में लग जाते थे उसे जी-जान लगा कर करते थे। यहाँ महात्मा भगवानदीन, ला० गेंदनलाल, कुँवरसेन शर्मा जैसे आनरेरी समाज-सेवियों का समागम हो गया, यह आपके अनन्य मित्र व सहयोगी रहे थे। बोर्डिङ्ग में जिस समय आप गये थे केवल १२ विद्यार्थी थे किन्तु बोर्डिङ्ग छोड़ते समय ६० थे। बोर्डिङ्ग का इतना अच्छा प्रबन्ध था कि विद्यार्थी व कार्य-कर्त्तागण बोर्डिङ्ग के भोजन को घर से अधिक अच्छा समझते थे। ऐसी उत्तम व्यवस्था करके संस्था को छोड़ जाना सेठी जी को बहुत अखरा था। यहाँ से चलकर सन् १९११ में आप मोरेना पं० गोपालदास जी बरैया के पास पहुंचे। उस समय पं० गोपालदास जी का नाम बड़ा प्रख्यात था। वे उदार और बड़े प्रौढ़ विद्वान थे, समाज में उनका खूब नाम था। जिस समय आप मोरेना गये वहां कुल ६ विद्यार्थी स्वयं छात्र-वृत्तियां प्राप्त करके एक अलग मकान में अपने प्रबन्ध से रहते थे। पंडित जी स्वयं व्यापार-वाणिज्य करते थे और उससे दो घन्टे का समय निकाल कर पढ़ा दिया करते थे। गार्गीय जी भी वहाँ अपने खर्चे से रहकर पढ़ने लगे। उस समय पंडित जी संस्था के लिये दान मांगने में लघुता और तुच्छता के भावों का अनुभव किया करते थे। पंडित जी

की प्रसिद्धि के साथ-साथ वहां विद्यार्थियों की संख्या-वृद्धि भी होती जा रही थी, इससे गार्गीयजी ने पंडित जी को बहुत समझा-बुझा कर जैन सिद्धान्त पाठशाला स्थापित करने के लिये प्रेरित किया। तब पंडित जी ने यह कह कर संस्था स्थापित करने की स्वीकारता दी थी कि मैं किसी से अपील नहीं करूंगा तुम स्वयं इस कार्य को करना स्वीकार करो तो, संस्था स्थापित कर सकता हूं। इसके बाद पंडित जी की संरक्षकता और गार्गीय जी के मन्त्रित्व में संस्था क़ायम हो गई और उसका परिणाम यह हुआ कि पंडित जी की दान मांगने की हिचक छूट गई और संस्था बजाय पाठशाला के विद्यालय के रूप में परिणत हो गई। उसका खुद का बड़ा विशाल विद्या-भवन बन गया। गार्गीय जी ने इस संस्था को उन्नत बनाने में बहुत जी-तोड़ परिश्रम किया। आपकी लेखनी में बड़ा ओज था, उससे प्रभावित होकर बहुत भारी सहायता आने लगी और मोरेना की संस्था उस समय की सब संस्थाओं में प्रमुख गिनी जाने लगी। यदि सच पूछा जाय तो यह सब गार्गीय जी के सतत् उद्योग का फल था। आपने ३ वर्ष तक आनरेरी मन्त्री रहकर संस्था को जो विशाल रूप दिया था, उसके बाद कोई भी उस समय जैसी स्थिति पर आज तक इस विद्यालय को कोई नहीं ला सका। आपने ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर के दौरे में और पं० गोपालदास जी के साथ प्रचारार्थ भ्रमण करके अपने ओजस्वी भाषण दिये, इससे उन दिनों आपकी बड़ी ख्याति थी।

इस तरह सन् १९१० से १९१४ तक ४ साल का प्रवास गृह-त्यागी की भांति बीता, किन्तु संस्थाओं के काम के कारण आपको

संस्थाओं में भी सुख शान्ति न मिली और न अध्ययन का यथेष्ट अवसर मिला, इससे आपका संस्थाओं के काम से भी दिल भर गया और यह धारणा प्रबल होती गई कि इससे तो घर पर रहना ही अच्छा था। जो आदमी न्याय और सन्तोष के साथ व्यवसाय कर सकता है, उसे कलह-पूर्ण वातावरण में रहने की क्या आवश्यकता? आप पंडितों की मंडली के मध्य में एक अकेले ही सुधारवादी थे, जैसे ३२ दांतों के बीच में जीभ। इससे हमेशा आपके साथ खटपट रहती थी। पंडित जी आपका बड़ा भारी मान करते थे, यहां तक कि आप एक प्रकार से पूर्ण रूपेण पंडित जी के (Private) प्राईवेट सेक्रेटरी थे और यह संस्कृतज्ञ पुराने विद्यार्थियों (आजकल के पंडितों) को सह्य न था। एक बार पंडित जी से रिपोर्ट-प्रकाशन की विधि पर थोड़ा मतभेद हो गया, आपने फौरन त्याग-पत्र दे दिया और झाँसी वापिस आ गये, इसका पंडित जी को महान् दुःख हुआ। झांसी में आपको उन दिनों खूब राजनैतिक काम करना पड़ा, दो बार जेल भी गये। सन् १६२० में आपने एक प्रेस "बलवन्त प्रेस" के नाम से झांसी शहर में खोला। सन् १६२८ में एक प्रेस और "आर्ट प्रेस" के नाम से सदर बाजार झांसी में खोला और साथ में एक आदर्श स्टेशनरी की दुकान खोली। सन् १६२६ के अन्तिम दिन आर्ट प्रेस में आग लग गई और १२ हज़ार का नुक़-सान हो गया। और आपका काम बहुत ऊँचे दर्जे पर चल रहा है। स्टेशनरी की ऐसी आदर्श दुकान अन्यत्र यत्किंचित ही है, उसे तो स्टेशनरी का प्रदर्शन-गृह ही कहना चाहिये। आप तीन भाइयों में सबसे छोटे थे, आपके मँझले भ्राता लाला ज्योतिप्रसाद जी कौटुम्बिक

दुकान है। सुख से पूर्ण सुखी थे, उनकी लोहे के सामान की एक ऊँचे पैमाने की इस तरह गार्गीय जी भतीजे-भतीजियों, पोते-पोतियों, परध्योते-ध्योतियों आदि से एक वृहत् कुटुम्ब के अधिपति थे। इस समय भतीजे ही प्रेस का सब काम सम्हाले हुये हैं।

गार्गीय जी ने श्री सोनागिर जी सिद्ध-क्षेत्र के उद्धार में बड़ा भारी उद्योग किया है। इस क्षेत्र का जो उद्धार हुआ है इसके सूत्रधार आप ही थे। सन् १९१७ से इस क्षेत्र की कमेटी कायम हुई थी, उस वक्त से अब तक आप किसी न किसी रूप में उसका काम करते चले आते थे। इस कमेटी के काम में आपको बड़े कष्ट और विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। जब-जब इसके प्राणों पर आई है, आपने मन्त्री बन कर उसकी रक्षा की थी। श्री देवगढ़ क्षेत्र को प्रसिद्धि में लाने और उसकी रक्षा के प्रथम संयोजक आप ही थे। सन् १९१६ में अम्बाले में जो वृहत् वेदी-प्रतिष्ठा हुई थी, उसके आप मन्त्री थे। आपको कितने ही अधिवेशनों का संयोजक होना पड़ा था, इस विषय का आपको अच्छा अनुभव था। आप अथक परिश्रम करने वाले सार्वजनिक कार्य-कर्त्ता एवम् कर्म-योगी थे।

चिरञ्जीलाल बड़जात्या.

सम्यग्दर्शन : एक दृष्टि

सभी ने सत्य की महिमा का बखान किया है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', यह महामन्त्र ऐसा ही एक महिमा-गान है। यह ऐसी गागर है जिसमें सागर भरा है। सत्य कल्याणकारी है, यह शाश्वत सत्य यहां सहज ही हमारे सामने आता है और साथ ही इस सत्य की झांकी भी हमें मिलती है कि असत्य अकल्याणकारी ही है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' मन्त्र भी प्रकारान्तर से इसी भाव को व्यक्त करता है। सुख, दुख-निवृत्ति, मुक्ति, मोक्ष, निजात, निर्वाण, साल्वेशन (Salvation), या आत्म-कल्याण ही प्राणी मात्र का ध्येय है, और ध्येय-प्राप्ति ही विजय है, इस तरह सत्य कल्याण-कारी है, सत्य विजय है या सत्य की विजय होती है। फिर, यह भाव भी यहाँ प्रतिभासित होता है कि सत्य कल्याणकारी ही नहीं, सुन्दर भी है। सत्य को असुन्दर, भयावह या कटु कहने में कोई सार नहीं है। यह हमारा दृष्टि-दोष है कि कुरूप असत्य हमें सुन्दर दिखे और हम उससे चिपके रहें, पर चिर-सुन्दर सत्य को कुरूप समझ कर उससे दूर भागें। जब हम सत्य को भयावह कहते हैं तो वास्तव में अपनी ही भीरूता या कायरता को स्वीकार करते हैं। सच यह है कि सत्य अपनी हर स्थिति में कल्याणकारी होने के साथ सुन्दर भी है।

सम्यक्त्व, सच्चाई, हक़ीक़त, रास्ती, ट्रुथ (Truth) आदि अनेक शब्द 'सत्य' के समानार्थक हैं। अपनी-अपनी भाषा या रुचि के अनुसार कोई किसी शब्द को भी अपनाए, परन्तु उसी पर ही अपना एकाधिकार जमा कर या उसे ही अपनी बपौती मानकर उसे अपने लिए 'पेटेन्ट' न कर ले, तो कोई हर्ज नहीं है। पर मनुष्य सदैव किसी एक शब्द को अपनाकर उसका ही एकान्तपूर्ण आग्रह करने की भूल करता रहा है। यह भूल सत्य की आराधना के मार्ग में एक बाधा है, जो दूर होनी चाहिए। पर इससे भी बड़ी भूल जो मनुष्य करता रहा है यह है कि उसने सत्य का 'लेबिल' लगाकर असत्य की पूजा की है। सत्य की दुहाई दे-दे कर असत्य को प्रश्रय देने की इस प्रवंचना से बड़ा-ही अहित व विनाश हुआ है। यह भ्रम कि कल्याण सत्य से विलग होकर भी टिक सकता है, व्यक्त या अव्यक्त रूप से यहाँ पदारूढ़ है। सत्य के सच्चे स्वरूप को, अथवा उसकी कल्याणकारिता व सुन्दरता के मर्म को न समझने से, और फिर अज्ञान, अहंकार, प्रमाद आदि अपने अनेक अवगुणों से या अपनी भीतरी कमज़ोरियों से सत्य-साधना के मार्ग में थक कर, हताश होकर या बहक कर, पथ-भ्रष्ट हो जाने से ही उसे यह भ्रम हुआ है या हो सका है। इस भ्रम-जाल में फंसकर व्यक्ति निश्चय और व्यवहार के अन्तर को नहीं समझ पाता है और इसीलिए वह ऐसे नियम व विधान बनाता रहा है जो कुछ समय तक उसका कल्याण कर पाते हैं पर फिर वे पूर्व-संचित कल्याण को धीरे-धीरे मिटा कर सामूहिक रूप से अकल्याणकारी होकर ही रह जाते हैं। इस वस्तुस्थिति की परि-स्थितियाँ या बाह्यरूप अनेक हैं, जैसा कि सहज स्पष्ट है। अपरिवर्तन उन सब का मूल है। इसके पीछे निश्चय और व्यवहार का गोल-माल है और इस गोलमाल को शक्ति, प्रेरणा या संभवतः जन्म ही मिलता है इस भ्रमराज से कि असत्य से भी कल्याण हो सकता है। कल्याण-साधन के स्थायित्व के लिए यह अनिवार्य है कि मनुष्य के बनाए हुए नियम और विधान ऐसे सुदृढ़ व वास्तविक आधारों पर

अवलम्बित हों कि उनमें सहज स्वाभाविक ढंग से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार, अथवा नव-नव परिस्थितियों व आवश्यकताओं के अनुरूप समुचित परिवर्तन नियम रूप से होता रहे और कल्याण-कारिता की मूल प्रवृत्ति की ओर से किसी भी परिस्थिति में वह विमुख न हो सके, और यह तभी संभव है, जब कि कल्याण सत्य पर ही अवलम्बित हो। निश्चय-रूप कल्याणकारी सत्य की उच्च प्रतिष्ठा और मनुष्य का वास्तविक कल्याण तभी सुनिश्चित तथा अबाधित है जबकि व्यवहार-रूप सत्य सदैव निश्चयोन्मुखी रहे और इसके लिए वह समयानुसार बदलता रहे। वाह्य सत्य के परिवर्तन का नियम अतरंग सत्य के अपरिवर्तन अथवा चिरन्तर सत्य की स्थिरता, पवित्रता व सच्ची प्रतिष्ठा या गौरव-गरिमा के लिए अनिवार्य है। इस सत्य को समझने और तदनुकूल आचरण करने में ही जीवन का विकास है, आत्मा की उन्नति है।

प्रश्न—मनुष्य की वृत्ति-प्रवृत्ति, विचार-आचार तथा नियम-विधान, किसी सिद्धान्त या मान्यता पर टिके होते हैं, अतः उनको परिवर्तित करने के लिए क्या उस सिद्धान्त या मन्तव्य में परिवर्तन करना आवश्यक है? क्या इतना ही यथेष्ट नहीं है कि उन नियमों और विधानों के कार्य और भावना का पारस्परिक विरोध दिखला कर उसकी मान्यता के आधार पर नए नियम व विधान बना लिए जायं।

उत्तर—सद्-उद्देश्य व सद्-भावना होते हुए भी नियम या विधान हानि-प्रद हैं और हर हालत में उन्हें बदलना अच्छा ही है, लेकिन इतना ही यथेष्ट नहीं है। आज वे अनुपयोगी सिद्ध न हों तथा कल भी हानिकारक न बन सकें, इसके लिए ज़रूरी है कि वे नियम या विधान जिन सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों पर स्थित हैं, उनमें से असत्य को निकाला जाय और यदि आवश्यक हो जो उन्हें बदल

ही दिया जाय या उनकी जगह दूसरे सिद्धांतों को दी जाय। ये नियम व विधान उन्हीं मान्यताओं पर खड़े हों जो सत्य हों, अथवा अंतरंग या आधारभूत सत्य वास्तव में सत्य हो, विशुद्ध सत्य हो, असत्य से मिश्रित या विकृत न हो, यह सबसे प्रधान आवश्यकता है। इसके लिए कोरे बाहरी नियमों और विधानों को ही नहीं, आवश्यक हो तो सिद्धान्तों और मन्तव्यों को भी, बदलना श्रेयस्कर बल्कि अनिवार्य है। खून का विकार बाहर मरहम लगाकर दूर नहीं हो सकता, उसके लिए तो आसव पीकर रक्त-शुद्धि करना ही आवश्यक है। यदि मूल में ही भूल हो तो उसे सुधारे बिना बाहरी बातों में कितना ही उलटफेर किया जाय, वह व्यर्थ है, और यदि व्यर्थ नहीं है तो अपर्याप्त तो है ही।

प्रश्न— कोई सिद्धान्त भले ही सत्य न हो लेकिन उससे मनुष्य को अच्छाई व नेकी का सबक़ या कर्तव्य-पालन की प्रेरणा मिले तो उसमें अनौचित्य या असत्य क्या है?

उत्तर—असत्य विचारों या सिद्धान्तों को सद्‌गुणों व सद्‌वृत्तियों का प्रेरक बना देने से पहली हानि यह है कि जो असत्य स्वभावतः ही भण्डाफोड़ या सर्वनाश के ख़तरे में रहता है, उसके साथ उन सद्‌गुणों का भविष्य भी ख़तरे में पड़ जाता है। उदाहरणार्थ, क़यामत के दिन खुदा पापियों को सज़ा देगा, और पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करेगा, इस मान्यता को लेकर यदि कोई ईमानदारी, सच्चाई, वफ़ादारी व नेकी को ग्रहण करे और यदि कभी खुदा की क़यामत तथा उसकी न्यायप्रणाली की मान्यता पर से विश्वास उठ जाय, जैसा कि उसके कल्पना या परम्परागत या संस्कार-जन्य श्रद्धा मात्र पर अवलम्बित होने के कारण बहुत सम्भव है, तब ऐसी स्थिति में उस मान्यता के साथ सद्‌गुणों का सम्बन्ध

जितना घनिष्ट या दृढ़ था, उसी सीमा तक या उसी अनुपात में अब उस मान्यता के असत्य प्रतीत हो जाने से उन सद्‌गुणों के प्रति श्रद्धा या निष्ठा में कमज़ोरी आ जायगी। दूसरी हानि यह है कि सभी सद्-वृत्तियों या सदाचारों के लिए अच्छे और सच्चे कारण हैं और व्यक्ति के व्यक्तित्व के भीतर या प्राणी के यथार्थ स्वरूप में ही एक प्रकृतिजन्य प्रेरणा भी है या लब्धिरूप से सद्-वृत्तियों-प्रवृत्तियों का पूरा भंडार ही वहाँ है, लेकिन जब उसे असत्य के साथ अपेक्षित या सम्बद्ध करके उपयोग में लाया जाता है या जब अपनी सद्-वृत्तियों को असत्य पर निर्धारित किया जाता है तब स्वभावतः ही उन सत्य स्वाभाविक या वास्तविक कारणों या प्रेरणाओं का मूल्य व प्रभाव कम हो जाता है, और इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उन्हें भुला कर या दबाकर जो कुछ समय के लिए द्रुतगति से कल्याण होता दिखता था, वह रुक जाता है, बल्कि आगे चल कर उससे अधिक अकल्याण होने लगता है। मानव-चरित्र की सभी अच्छाइयां हमारे स्वभाव में नैसर्गिक रूप से विद्यमान हैं। लेकिन ऐसा न भी हो तो बाहर उन अच्छाइयों को ग्रहण करने के लिए वास्तविक तथा सर्वथा उचित कारण हैं। ऐसी दशा में कल्पनाओं या झूठी मान्यताओं पर उन्हें टिकाना व्यर्थ ही उन्हें क्षीण बनाना है तथा भविष्य के लिए ख़तरा मोल लेना है।

प्रश्न—सदाचरण अथवा सद्-वृत्ति-ग्रहण के वास्तविक कारणों की सहायता लेकर भले ही कुछ सुशिक्षित, सुसंस्कृत या विशेष बुद्धिमान-विद्वान व्यक्तियों को इधर प्रेरित किया जा सके, लेकिन जन-साधारण को इधर आकर्षित करने के लिए तो ऐसे ही कारणों की दुहाई आवश्यक हो सकती है, जिनका आधार भय, प्रलोभन, कल्पना, अनुमान आदि हो।

उत्तर—सचमुच मस्तिष्क के स्वतन्त्र व उचित उपयोग की जगह अंध-विश्वास व अन्धानुकरण ही, कुछ संयोग से, कुछ अनैतिहासिक काल से चली आई पद्धति या संस्कारों की परम्परा से, तथा कुछ व्यक्तित्व की सहज दुर्बलता के कारण बहुतों को सदाचार की प्रेरणा दे सका है और दे सकता है, लेकिन इस तरह की विकृति, अयोग्यता या हीन मनःस्थिति का सीधा कारण यही अन्ध-विश्वास या अन्धानुकरण है। एक ऐसी ग़लती पकड़कर बैठ जाना, जो सभी विषयों पर विचार करने के ग़लत तरीक़ों को जन्म दे या उनका अनुमोदन या प्रोत्साहन करे, अपनी जितनी भी सत्य को समझने व ग्रहण करने की योग्यता व शक्ति है, उसे धीरे-धीरे और भी कम करना है। अन्धानुकरण की नीति से हानि यह है कि हम सभी मामलों को ग़लत दृष्टिकोणों से देखते हैं, सभी विषयों पर ग़लत तरीक़ों से विचार करते हैं और प्रायः ग़लत नतीजों पर ही पहुँचते हैं, जब कि लाभ इतना ही है कि संयोग से हम एक दो विषयों पर ठीक परिणामों पर आ जाते हैं। रहा प्रश्न सर्व-साधारण की अक्षमता या अयोग्यता का। उसे अनिवार्य मान लिया जाय तो हम उसे आधार बनाकर असत्य के प्रचार द्वारा उसे मिटाने का तो अवसर देते ही नहीं हैं, बल्कि उसे अक्षुण्ण छोड़ देते हैं, अथवा शायद बढ़ाते ही हैं। जो अनिवार्य हो, वह उचित या लाभप्रद भी हो, यह आवश्यक नहीं है। मनुष्य की वैकारिक स्थिति या कमज़ोरी को अपेक्षित रखकर जो अनिवार्य समझा जाता है या समझा जा सकता है, वास्तव में वह अवांछनीय है, हेय है। एक सुन्दर व मनोहारिणी युवती स्त्री को देखकर साधारणतया युवा पुरुष के हृदय में विकार-भाव का उदय होना या वासना से पीड़ित होना स्वाभाविक-सा है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि युवा पुरुष को यह अधिकार दे दिया जाय कि किसी भी सुन्दर युवती के साथ वह अपनी वासना की तृप्ति कर सके। मनुष्य के दौर्बल्य को लेकर यदि हम औचित्य

का निर्णय करेंगे और तदनुकूल नियम व विधान बनायेंगे तो ग़ज़ब हो जायगा। जो अनुचित हो, वह अनिवार्य हो या न हो, हमें उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दुःख अनिवार्य है, फिर भी दुख दूर करना और सुख प्राप्त करना हमारा ध्येय होना चाहिए। इसी तरह असत्य कहीं भी हो, किसी भी रूप में या कितनी-भी मात्रा में हो, हमारा कर्त्तव्य यही है कि हम उसे दूर करें अथवा उसे पदच्युत कर सत्य को पदारूढ़ करें। हर हालत में असत्य से सदाचार की भावना को बांधना हानिप्रद ही है। अतः यह आवश्यक है कि हम सदाचार और असत्य की यह दुरभिसंधि तोड़ें। हमें यह भी हृदयंगम कर लेना चाहिए कि दूसरे को ऊपर उठाने के लिए खुद नीचे गिरना अपना पतन है दूसरे का उत्थान नहीं है।

प्रश्न—यदि यह मान भी लिया जाय कि असत्य अकल्याणकारी और सत्य कल्याणकारी है, तब भी साधारणतया आज जो जन-साधारण अपने-अपने विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों आदि को लेकर अपनी सामान्य मनोवृत्ति या अपना एक दृष्टिकोण बना बैठे हैं, और उनकी वृत्ति-प्रवृत्ति या उनकी भावना व कृति में जो एक तरह का सामंजस्य आ चुका है, उसे देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि एक असत्य विचार से जितनी हानि हो रही है या हो सकती है, उसको मिटा देने से अपेक्षाकृत अधिक हानि ही होगी, क्योंकि सभी असत्य विचार मनुष्य के सोचने-विचारने और अनुभव करने की पद्धति से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं कि एक-दो अलग सी सच्चाइयों को वहाँ जगह देने से, आज की जैसी हालत में उनके साथ वहाँ अन्य सच्चाइयों के न होने से अथवा प्रायः असत्यों की ही वहाँ संगति होने से, व्यक्तिगत आचरण व व्यवहार का संतुलन, जो नैतिक जीवन के लिए बहुत आवश्यक है, नष्ट हो जायगा और इससे मनुष्य का पतन होगा।

उत्तर—मानव-समाज के इतिहास से पता लगता है कि ग़लत तरीक़े से विचारने पर ग़लत विचार की खिड़की में से सहज ही आक्रमण किया जा सकता है, और बहुत ही सरलता व सफलता के साथ। व्यक्ति के आचरण व व्यवहार का सामंजस्य इसी कारण नष्ट नहीं होने पाता। यही नहीं, इसी क्रम से वह सत्य की ओर अग्रसर होता जाता है। मानव-चरित्र का सामंजस्य आख़िर क्या है? यही न, कि मनुष्य के स्वभाव की बौद्धिक, नैतिक व व्यावहारिक प्रवृत्तियों में पूर्ण सामंजस्य हो, विचारों, भावनाओं और संकल्पों में परस्पर पूर्ण सहयोग हो? विचार कोई ऐसा सुझाव न दें जिसका भावनाओं से मेल न बैठे और कोई ऐसा निषेध भी न करें जिसके विरुद्ध भावनाएं विद्रोह करें। यूं भी कह सकते हैं कि संकल्प विचारों और भावनाओं के अनुकूल हों, तभी चरित्र का सामंजस्य संभव व सुलभ है। यदि विचार अपनी सूचना-पद्धति में पूर्ण सत्य व शुद्ध हों, भावनाएं अपने उद्गम या प्रवाह में निर्दोष व निर्मल हों, फिर ऐसे सुन्दर विचारों और भावनाओं के अनुरूप मनुष्य के संकल्प व उसकी प्रवृत्तियां हों, यही मानव-चरित्र की उत्कृष्ट अवस्था है। ऐसे आदर्श चरित्र-निर्माण में असत्य को स्थान ही कहाँ है? कल्पना सत्य के साथ या उससे अलग यहां कहां है? यहां तो पूरी सचाई, ईमानदारी और अन्तस्तल की स्वच्छता या पवित्रता अनिवार्य है। ऐसे अमूल्य चरित्र-निर्माण के परम पावन मंदिर को असत्य की कीचड़ से अशुद्ध व अपवित्र करने की कल्पना भी असंगत है। अतः जब भी, जहाँ भी, और जितना भी और जिस रूप में भी असत्य मिले, उसे हटाना ही उचित व आवश्यक है। तभी मानव-चरित्र की पूर्णता के आदर्श की ओर हम अग्रसर हो सकेंगे। इसमें समय लगेगा सो लगे, पर आदर्श के पास तो हम होते जायंगे, आगे तो हम बढ़ते जायंगे। आज असत्य के अथवा सत्यासत्य के साथ चरित्र के सामंजस्य को नष्ट न होने देने की हमें जो चिन्ता है, वह छोड़नी

होगी। यहाँ झूठा मोह है जिसे त्यागे बिना कल्याण नहीं है। पर अगर यह मान भी लिया जाय कि विचार करने का सारा दृष्टिकोण बदले अन्यथा सत्यासत्य की जो खिचड़ी पकेगी उससे मस्तिष्क बौखला जायगा तथा नैतिकता व सदाचार को हानि पहुँचेगी तो भी कोई हर्ज की बात नहीं है, क्योंकि ऐसी डाँवाडोल स्थिति के बाद जब सत्य अपना स्थान बना लेगा और वहाँ जम कर बैठ जायगा, तब स्थिरता आ जायगी और सत्य अपनी ज्योति से असत्यों को प्रकाश में लाकर उनका रहस्योद्‌घाटन करेगा, और तब अन्धानुकरण या अन्धविश्वास की नीति के लिए कोई स्थान न रहेगा, और तभी मनुष्य सत्य के वास्तविक व ठोस आधार पर निर्धारित सदाचार की ओर सच्चे अर्थों में बढ़ेगा और उसका स्थायी कल्याण हो सकेगा। अयोग्यता को दूर करने की बजाय निकट भविष्य के संकुचित लाभ के प्रलोभन में अयोग्यता को क़ायम रहने दिया जाय, बल्कि उसे और दृढ़ व स्थायी कर दिया जाय, और इस तरह से छोटे-से स्वार्थ के लिए इतनी मंहगी क़ीमत चुकाई जाय, यह किसी तरह भी वांछनीय व उचित नहीं है। वहमों और अन्ध-विश्वासों की पुरानी बोतलों में नई-नई शराब डाल कर जन-साधारण को पिलाना और उसे पथ-भ्रष्ट करके आमूल परिवर्तन करने से रोकना अकल्याण को बढ़ाना और स्थायी कल्याण का मार्ग अवरुद्ध करना है।

प्रश्न—असत्य मान्यताओं का सहारा लेकर मानव-समाज का कल्याण हुआ है, इसलिए यह कैसे मान्य किया जाय कि असत्य में मूल रूप से कल्याण करने की अयोग्यता या शक्ति नहीं है?

उत्तर—सचमुच इतिहास हमारे सामने ऐसे उदाहरण उपस्थित करता है जिन से, नैतिक व धार्मिक रूप धारण कर झूठी मान्यताओं या कल्पनाओं ने कल्याण किया है, ऐसा प्रतिभासित

होता है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। यहाँ असत्य की उपयोगिता या कल्याणकारिता का धोखा ही है। सच यह है कि इन हालतों में असत्य विचार के पूर्णतया असत्य न होने से या सत्य से पूर्णतः शून्य न होने के कारण, जो कुछ सत्य वहाँ विद्यमान था, उसी का यह कार्य था। जो असत्य वहाँ था, वह बिलकुल अनुपयोगी व बेकार ही था। जो भी सुख या कल्याण वहाँ हुआ, उसका श्रेय उस असत्य को नहीं दिया जा सकता जो वहाँ था, बल्कि उस सत्य को ही दिया जायगा जो उस असत्य के साथ रह कर तथा उसके अतिरिक्त अथवा उसके विरोध में भी अपना काम कर रहा था।

प्रश्न—प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग-अलग है, अतः मतैक्य असम्भव है। फिर एक ही सत्य में सब विश्वास करें, यह व्यवहार्य नहीं है और ऐसी हालत में मात्र उसी एक व्यक्ति का या कुछ व्यक्तियों का कल्याण हो सकेगा जो उस सत्य में विश्वास करते हैं, औरों का नहीं। फिर, जन-कल्याण कैसे होगा?

उत्तर—निस्सन्देह यह आशा करना कि सभी व्यक्ति अमुक एक विचार को कभी अपना सकेंगे, व्यर्थ है। एक व्यक्ति का सत्य प्रायः दूसरे के लिए असत्य रहा है। सर्व-जन-मतैक्य न कभी हुआ है, न हो ही सकेगा। हर व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग है, उसके मस्तिष्क व हृदय की बनावट में अन्तर है फिर उसकी सूझ-बूझ भी भिन्न है और उसकी दीक्षा व उसके संस्कार भी एक से नहीं हैं। साथ ही उसकी परिस्थिति व वातावरण भी विशेष है, उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति, रुचि-अरुचि, आदत एवं उसका रंग-ढंग भी निराला है। ऐसी हालत में इस भू-मण्डल पर असंख्य विभिन्न परिस्थितियों में अगणित विभिन्नताओं को लिए हुए इन लाखों-करोड़ों मनुष्यों के विचारों में एक-रूपता की आशा रखना शेख-चिल्लीपन ही है। सत्य पर ही सद्-वृत्तियाँ स्थित करने की उपयोगिता पर ज़ोर देते समय

यह कटु-कठोर सत्य हमारे सन्मुख था, फिर भी हमने इस पर ज़ोर दिया क्योंकि किसी तत्व, सिद्धान्त या आदर्श को ठीक-ठीक समझ कर और मानकर ही व्यक्ति अलग-अलग और सामूहिक रूप से भी कल्याण-पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। सभी व्यक्ति सत्य को समझने में भले ही सहमत न हों लेकिन वे प्रायः या कम-ज़्यादह यह तो कर सकते हैं कि पूरी ईमानदारी के साथ, बिना किसी पक्षपात या अस्वाभाविक बन्धन के, संस्कारों की परम्परा तथा शिक्षा-दीक्षा के ख़ास साँचों में फ़िट होने की गुलामी को तोड़ कर, किसी एक व्यक्ति या कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही, अथवा किसी एक या कुछ पोथियों को ही लेकर, बुद्धि व विवेक कौड़ियों के भाव न बेच कर तथा बहुत ही शान्ति के साथ ठंडे दिल और दिमाग़ के साथ, धैर्यपूर्वक, हृदय की स्वच्छता कषायहीनता व ईमानदारी से काम लेकर जिन विचारों को सत्य समझ सकें, उन्हें ही ग्रहण करें और अपने निर्णीत सत्य को ही अपनी सद्-वृत्तियों-प्रवृत्तियों का आधार बनाएँ। कोई भी व्यक्ति किसी व्यक्ति से या अन्य व्यक्तियों से चाहे सहमत न हो, लेकिन निष्पक्ष व निर्मल बुद्धि से, शुद्ध अन्तःकरण से तथा यथार्थ दृष्टिकोण से सत्यासत्य का निर्णय करे, यह व्यवहार्य है, वांछनीय है, और व्यक्ति ऐसा करे तथा दूसरों से, अधिक से अधिक प्राणियों से, ऐसा कराए, यह व्यक्ति के वैयक्तिक व सार्वजनिक जीवन का लक्ष्य बनने योग्य भी है। ऐसा होने पर व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ वहाँ अक्षुण्ण ही नहीं रहेंगी. बढ़ेंगी भी तथा साथ ही साथ अनेकता में ऐसी एकता स्थापित हो सकेगी कि पृथ्वी पर ही स्वर्ग का आह्वान होने लगेगा। तब सत्य थोड़े ही व्यक्तियों के हाथों में भले ही आए, पर सत्य-दृष्टि बहुतों को मिलेगी, और यह दृष्टि असत्य को तथा कोरी कल्पना या अनुमान को, जो एक प्रकार से असत्य के ही रूप हैं, विचार-मार्ग से दूर हटाएगी, और इस सीमा तक सत्य की ही प्राप्ति होगी। फिर, सत्य-दृष्टि मिलने पर पूर्ण या अधिकाधिक सत्य

पाने का मार्ग भी खुल जायगा। सत्य-दृष्टि सत्य को खोजने में लगेगी, तब वह सफल हो या असफल, यह प्रयास ही सत्य के रूप में दृष्टि-धारी के सामने आएगा, और तब जो भी विचार वह ग्रहण करेगा, वे उसके लिए उसके सत्य विचार होंगे, या वे मिलकर उसे उसका विचारानुमोदित सत्य देंगे, और उससे प्रेरित होकर वह सद्-प्रवृत्तियों से अपने चरित्र को परिष्कृत व समुन्नत कर आत्मोन्नति करेगा, अपना कल्याण करेगा। यूं भी कह सकते हैं कि सत्य-दृष्टि या सम्यक्-दर्शन प्राप्त होने पर उस दृष्टि के परिणाम-स्वरूप जो ज्ञान उसकी श्रद्धा का विषय होगा, वह उसका सम्यक्ज्ञान होगा और तदनुकूल जो उसका व्यवहार या आचरण होगा, वह उसका सम्यक्-चरित्र होगा। इस तरह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का समन्वय या संयोग ही वह मार्ग होगा जिस पर चल कर वह स्व-पर-कल्याण कर सकेगा। जब तक उसकी दृष्टि शुद्ध रहेगी, या उसका सम्यक्दर्शन अक्षुण्ण व अविकृत रहेगा, तब तक उसके आचरण का वाह्य रूप बदलते रह कर भी उसका निश्चय सत्य या सम्यक्त्व की ओर ही उन्मुख रह कर उसे गौरवान्वित बनाता रहेगा।

प्रश्न—आपने ऊपर कल्पना को असत्य का ही एक रूप कहा है। तो क्या सत्य में कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है? अथवा, क्या सम्यक्दर्शन कल्पना से सर्वथा निरपेक्ष है?

उत्तर—कल्पना निरी असत्य ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है। अपनी जगह वह सत्य ही है। पर जब वह अपनी जगह छोड़ दे, या जब वह अपने वास्तविक रूप में न रहे, तब वह असत्य बन जाती है। कल्पना का अपना एक मूल्य है, यह सन्देह से परे है। कल्पना मानव-बुद्धि की ही देन है। जो कल्पना नहीं कर सकता और उससे लाभ नहीं उठा सकता, उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। कल्पना आविष्कार की जननी है। कल्पना प्रेरणा का स्रोत है।

कल्पना काव्य के रूप में रस की धारा है जो जीवन के मरुस्थल में हरियाली लाती है। कल्पना कला की जन्मदात्री है कल्पना आदर्श की सखी व सहायिका है। उसकी दुनिया में दुखी को सान्त्वना मिलती है, थका हुआ स्फूर्ति पाता है, हारे हुए को आशा व उत्साह प्राप्त होता है। इस तरह कल्पना जीवन की एक अमूल्य निधि है और इस अपेक्षा से सत्य से उसका गहरा नाता है। पर उसके औचित्य की दो मर्यादाएँ हैं। एक तो यह है कि कल्पना भव्य हो, सुन्दर हो, उच्च हो, अथवा उसका भाव व निष्कर्ष जीवन को ऊपर उठाने वाला हो। दूसरी यह कि कल्पना कल्पना ही बनी रहे, वह वास्तविकता पर न छा जाए। कल्पना प्रत्यक्ष या वैज्ञानिक सत्य के आसन पर अधिकार जमा ले, तो हानि ही है। कल्पना बुद्धि के पीछे रहे तो ठीक, पर बुद्धि कल्पना की पिछलग्गू बन जाय तो ग़लत। अतः कल्पना यदि यथार्थ में कल्पना के आसन पर बैठी जीवन के वास्तविक मूल्यों का वरदान दे रही है तो वह सत्य का ही अंग है, बल्कि वह स्वयं सत्य है। पर जहाँ कल्पना बुद्धि पर सवार हो, वैज्ञानिक सत्य की जगह घेर कर बैठ जाय, भौंडी और निकम्मी हो, कुत्सित या भयावह हो, अहितकारी व विनाशक हो, वहाँ निश्चय ही वह असत्य है, सम्यग्दर्शन से सर्वथा निरपेक्ष है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सम्यग्दर्शन एक दृष्टि है, एक दिशा है। यही उसका विवेकपूर्ण, बुद्धि-गम्य, व एक मात्र मानव के लिए गृहणीय रूप है। कुछ गिने-चुने विचारों से उसे अपेक्षा नहीं है। वह सदैव शुद्ध, ताज़ा, व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक व लाभदायक तथा हर तरह मनुष्य के लिए कल्याणकारी है। उस विचारधारा की गंगा में सच्चे हृदय से नहाना ही वह सम्यक्-चरित्र है जिसकी महिमा व महत्ता अवर्णनीय है। इस तरह सम्यक्-दर्शन को श्रद्धान या भक्ति मानना भ्रमपूर्ण है। वह एक दृष्टि-बिन्दु है, एक विचार-सरणि है। भक्तियोग, ज्ञानयोग और

कर्मयोग, ये त्रियोग मिल कर भी सम्यक्‌दर्शन के बिना बेकार हैं। वास्तव में 'योग' योग ही नहीं है यदि उसका मूल सम्यग्दर्शन में नहीं है। एक तरह से भक्तियोग व ज्ञान-योग दोनों ही सम्यक्‌ज्ञान के अन्तर्गत आते हैं और कर्मयोग को सम्यक्-चरित्र कहा जा सकता है। जब तक इन तीनों योगों में सम्यक्‌दर्शन का भी दृष्टियोग, जो वास्तव में योगराज है, न मिलेगा, सारी योग-साधना व्यर्थ है। सम्यग्दर्शन सर्वप्रधान है। यह बड़े सेबड़ा आशीर्वाद है जो कोई भी अपने जीवन में पा सकता है। इसे अन्तर्मन का उजाला या दिल की रोशनी भी कह सकते हैं। यही आत्म-स्थित विवेक है।

पर यह जानने पर भी कि सम्यग्दर्शन एक दृष्टि है, एक दिशा है, एक धारा है, बहुत-कुछ जानना शेष रह जाता है। जिज्ञासा बच्ची नहीं है जो यूं ही बहल जाय और आज के विज्ञान-युग में तो वह बड़ी ही हठीली हो गई है। जिज्ञासा का यह हठ कि बुद्धि परिभाषाओं में न उलझकर गहराई में जाए और यह देखे कि मल या विकार क्या है जो दृष्टि को मलिन या विकृत बनाता है? वह भ्रम क्या है जो दिशा को बिगाड़ता है, या वह विष क्या है जो धारा के स्वच्छ जल को विषाक्त बनाता है? बाह्य दासताओं से मुक्त होने पर बुद्धि पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती है, पर क्या सत्य-शोधन या सम्यक्त्व-ग्रहण के लिए इतना ही पर्याप्त है? क्या यह आवश्यक नहीं है कि बुद्धि व्यक्त व अव्यक्त तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म वासनाओं व विकारों से मुक्त हो? क्या यह ज़रूरी नहीं है कि संस्कारों व परिस्थितियों के कारण जिन दीवारों के बीच उसका कार्यक्षेत्र घिर गया है तथा जिन बन्धनों ने उसे जकड़कर उसकी शक्तियों को क्षीण बना दिया है, वे दूर हों? क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है कि बुद्धि बाह्य तथा अन्तःसृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करे और इसके लिए उसकी एकाग्रता, धृति, अनासक्ति, निर्विकारता आदि गुण इतनी प्रचुर मात्रा में व विकसित अवस्था में हों कि वह अपनी आदर्श सृष्टि का निर्माण कर सके तथा व्यक्तिगत,

वर्गीय जातीय, साम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय आदि अनेकानेक संकुचित स्वार्थों व परम्परागत विचारों एवं संस्कारों से ऊपर उठ कर परिस्थिति को भी, जो वास्तव में बुद्धि की गुरू है, मार्ग दिखाने का काम कर सके, और उसे बदल सके ? इस तरह और भी बहुत-से प्रश्न खड़े हो जाते हैं और तब यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है कि व्यवस्थित रूप से दर्शन-विशुद्धि या दृष्टि की निर्विकारता के वास्तविक स्वरूप को उलट-पुलट कर सभी दिशाओं व अपेक्षाओं से देखभाल कर ऐसी सभी शंकाओं का समाधान करने का एक मार्ग पा लिया जाय। यह खोज ही यहाँ हमारा लक्ष्य है।

पर इस खोज से पहिले इन तीन मूढ़ताओं को समझ लेना ज़रूरी है—

१—असत्य की कल्याणकारिता—

ऊपर विस्तारपूर्वक हमने सुस्पष्ट किया है कि सत्य ही कल्याणकारी है या हो सकता है, असत्य नहीं। असत्य को कल्याणकारी मानना सम्यग्दर्शन की आधार-शिला को ही क्षत-विक्षत करना है, सम्यक्त्व के मूल पर ही कुठाराघात करना है। यह एक ऐसी मूढ़ता है जिसे हटाए बिना सम्यक्दर्शन की झलक पाना भी दुस्सह व असंभव है।

२—भूल की असंभावना—

अपने विचारों में पूर्ण श्रद्धा होते हुए व तदनुकूल आचरण करते हुए भी उनमें गलती की संभावना ही न मानना या अपने को भूलों से परे समझना ही यह मूढ़ता है। इसे दूर किए बिना भी सम्यक्दर्शन की उपलब्धि सर्वथा असम्भव है।

प्रश्न—अपने विचारों में असत्य की संभावना मान्य करने का सम्यक्त्व से विरोध है क्या, है तो कैसे? क्या ऐसी संभावना रखकर अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास रख उनके अनुसार निर्भयता और निश्चितता से आचरण किया जा सकता है? क्या यह संशय की स्थिति नहीं है कि अपने विचारों की सत्यता में हमें अटूट आस्था न हो?

उत्तर—इसमें तो संदेह ही नहीं है कि हम सब का अपने विचारों की सत्यता पर विश्वास होना ही चाहिए, अन्यथा वे हमारे अपने विचार न रह जायँगे। लेकिन अपने विचारों की सत्यता में दृढ़ विश्वास होने और उनमें किसी भी तरह की ग़लती की संभावना न मानने में बहुत अन्तर है। दृढ़ विश्वास के साथ ग़लती की संभावना मानने का कोई विरोध नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपने मन्तव्य पर दृष्टि डाले या उस पर विचार करे तब उसे यह अनुभूति होना स्वाभाविक ही है कि उसमें कोई ग़लती नहीं है, और इसी तरह अन्य विचारों को भी वह अलग-अलग ले और उन पर नज़र डाले तो हर एक विचार के प्रति भी अलग-अलग यही धारणा होगी कि वह विचार बिल्कुल ठीक है या उसमें कहीं कोई भूल या त्रुटि नहीं है। लेकिन जब वह सामूहिक रूप से देखेगा और यह विचारेगा कि पृथ्वी पर आज तक एक भी व्यक्ति ठीक उसके जैसे सब विचारों का न हुआ है, न है और न होगा, तथा वह भूतकाल के इतिहास और मानव-समाज की गति-विधि को अथवा भिन्न-भिन्न जातियों, स्थानों व समयों के सिद्धान्तों को, जो अब लुप्त हो गए हैं, व्यक्तियों या समुदायों की विचार करने की पद्धतियों को, जो अब नष्ट हो चुकी हैं, तरह-तरह की परिस्थितियों, सभ्यताओं व संस्कृतियों में पले व पनपे हुए पक्षपातों और आदर्शों को, जिनकी धज्जियां उड़ चुकी हैं, तथा सत्य के खोजियों के सदा से होने वाले वाद-प्रतिवाद को, जो

अभी तक चला आ रहा है और कभी भी जिसका अन्त नहीं होगा, व्यक्ति गौर से देखेगा और साथ ही इस वस्तुस्थिति का भी निरीक्षण करेगा कि उसके चारों ओर सभी मनुष्य जो हैं, जो जा चुके हैं, और जो थोड़े-बहुत नहीं, करोड़ों-अरबों की संख्या में हैं या असंख्य हैं, अपने-अपने विचारों के प्रति पूरी श्रद्धा व सन्मान रखते आए हैं, या रख रहे हैं, तब सहज ही उसे बुद्धिगम्य या सहज विवेक-प्रेरित यह अनुभूति होगी और होनी ही चाहिए कि हर कोई व्यक्ति और इस अपेक्षा से वह स्वयं अपने विचारों में ग़लती पर हो सकता है। इस तरह अपने प्रत्येक विचार में अलग-अलग दृढ़ विश्वास रखते हुए भी सामूहिक रूप से अपने विचारों में असत्यता की संभावना मानी ही जानी चाहिए। यहाँ कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है। जहाँ यह दृष्टि या मनःस्थिति होती है, वहाँ विचारों में या तदनुकूल आचरणों में कोई ढिलाई न होते हुए भी पूर्ण-परिपूर्ण-सम्पूर्ण सत्य का अधिकारी या एक मात्र ठेकेदार होने का झूठा अहंकार नहीं आने पाता है। इतना ही नहीं, बे-सिर-पैर की कल्पनाओं और ख़्वाह-मख़्वाह की अटकलबाज़ियों में शक्ति व समय का अपव्यय करने की कमज़ोरी वहाँ नहीं रह पाती है, तथा 'जो मेरा है वह सत्य है', यह अहंकार-वृत्ति वहाँ न रहकर यह वृत्ति आ जाती है कि 'जो सत्य है वह मेरा है।' सत्य की सच्ची उपासना के लिए जो भावना या वृत्ति होनी चाहिए वह वहाँ बनी रहती है तथा वृथा संतोष द्वारा सच्चे असंतोष का गला घोंट कर वास्तविक संतोष की आराधना-साधना वहाँ भ्रष्ट नहीं होने पाती है। यहाँ संशय की स्थिति नहीं है, जिज्ञासा की वृत्ति है। यहाँ मस्तिष्क खुला है। यहाँ कदाग्रह या अन्धविश्वास के लिए स्थान नहीं है। यहाँ सत्य की खोज निर्बाध है। सम्यक्त्व की निर्मलता के लिए अनिवार्य है कि मनुष्य सत्य-साधना के ऐसे अमूल्य आधार पर आंच न आने दे। पूर्ण सत्य की ठेकेदारी का भूत अपने सिर पर से उतारे बिना सत्य-प्राप्ति के पथ पर एक क़दम

चलना भी दुष्कर है। सचमुच सम्यग्दर्शन को पाने के लिए इस मूढ़ता को हटाना नितान्त आवश्यक है।

३—स्थानापन्न विचार की अनिवार्यता—

सम्यक्त्व के आसन पर से एक मिथ्या विचार या मन्तव्य को उतार कर, दूसरे अबुद्धिगम्य या अप्रामाणिक विचार को आसनारूढ़ न कर, और इस तरह आसन को खाली ही रखकर जिज्ञासा व बौद्धिक अनुसंधान के लिए क्षेत्र खुला रखना भी प्रकारान्तर से सम्यक्त्व-ग्रहण ही है और इस अपेक्षा से एक विचार के असत्य प्रमाणित होने पर कैसे-भी अन्य विचार को उसकी जगह देने या श्रद्धास्पद बनाने का आग्रह मूढ़ता से भरा है। सच यह है कि एक असत्य विचार का त्याग अनिवार्य रूप से सत्य विचार का ग्रहण नहीं है।

प्रश्न—आपने कहा है कि एक असत्य विचार का त्याग अनिवार्य रूप से सत्य विचार का ग्रहण नहीं है। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण, इन दोनों स्थितियों के बीच भी कोई ऐसी स्थिति है जो मनुष्य के लिए सहज स्वाभाविक है, और क्या वहाँ सम्यग्दर्शन के लिए स्थान है ?

उत्तर—मिथ्यात्व का त्याग नकारात्मक सत्य है, सम्यक्त्व का ग्रहण सकारात्मक सत्य है। 'सकार' और 'नकार' सापेक्ष शब्द हैं. वे अपने में पूर्ण नहीं हैं। प्रायः नकारात्मक सत्य से सकारात्मक शब्द का बोध हो सकता है। आखिर 'अहिंसा', 'अपरिग्रह' जैसे नकारात्मक शब्द अपनी सीमाओं में कितना सकारात्मक सत्य लिए बैठे हैं ? फिर, बोध न भी हो तो उसकी दिशा की ओर इंगित हो सकता है। और, यह भी न हो तो उसकी खोज के लिए मार्ग तो प्रशस्त

होता ही है। नकारात्मक सत्य का इस अपेक्षा से सकारात्मक सत्य से खून का जैसा सम्बन्ध है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के अविरोधी ही नहीं, सहायक व पूरक भी हैं, और संभवतः बहुत अंशों में एक ही सत्य के दो बाजू हैं। दोनों में सत्य की कल्याण-कारिता का मूल-गुण अनिवार्य रूप से विद्यमान है। सकारात्मक सत्य कल्याणकारी है ही, साथ ही नकारात्मक सत्य जहाँ तक सकारात्मक सत्य से अपेक्षित है, वहाँ तक वह भी कल्याणकारी ही है। उसका यह कार्य इतना सूक्ष्म है कि उसकी अनुभूति सहज होना कठिन है। फिर, नकारात्मक सत्य से अहित या अकल्याण तो कम या बन्द होगा ही अथवा असत्य से जो क्षति होती थी वह रुकेगी ही। अकल्याण का यह निरोध, न्यूनता या अभाव भी तो प्रकारान्तर से कल्याण की ही वृद्धि है। सकारात्मक सत्य अप्राप्य भी हो तो भी नकारात्मक सत्य का ग्रहण स्वतः सत्य-ग्रहण है। मिथ्यात्व का त्याग स्वयं सम्यक्त्व-ग्रहण है। इस तरह मिथ्यात्व बनाए रखना किसी भी स्थिति में श्रेयस्कर नहीं है, फिर भले ही उसकी जगह लेने वाला सत्य पास हो या न हो। एक असत्य के त्याग और उसके स्थानापन्न सत्य के ग्रहण के बीच न जाने कितना समय बीत जाय, ठीक नहीं कहा जा सकता। आखिर, सत्य मिलने पर ही तो उस ख़ाली गद्दी पर उसे आसनारूढ़ किया जायगा। यह भी संभव है कि जीवन बीत जाय और वह सत्य न मिले। तो क्या इससे उस असत्य का त्याग बेकार हो गया? अथवा यदि सत्य मिला भी तो जब तक वह न मिला तब तक क्या असत्य का त्याग निरर्थक था? नहीं। हम कह ही आए हैं कि मिथ्यात्व या असत्य का त्याग एक तरह से (स्वयं निकाल दें) सत्य-ग्रहण है; तथा असत्य-जन्य अहित का निरोध वहाँ होने से कल्याण-कारिता भी है ही। आख़िर, शराब पीना बन्द करना चाहिए, इस पर कोई आग्रहपूर्वक पूंछे कि फिर क्या पीना चाहिए, तो यह मूर्खता ही होगी। एक रोगी दवाई के धोखे में विष ले रहा हो तो उसे रोकना ही चाहिए, भले ही उसके रोग की ठीक दवाई हम न बता

सकें। कहने का तात्पर्य यह है कि असत्य का त्याग हर स्थिति में वांछनीय है, आवश्यक है। हाँ, असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण, अथवा मिथ्यात्व का निराकरण और सम्यक्त्व का अंगीकरण, ये दोनों स्थितियाँ बिल्कुल एक भी नहीं हैं। इन दोनों के बीच भी एक स्थिति है, जिसे सत्य के खोज की स्थिति कहा जा सकता है। मिथ्यात्व बनाए रखने से उसका त्याग श्रेष्ठतर है ही, फिर भी सम्यक्त्व-ग्रहण वास्तव में और भी ऊँची चीज़ है, जिसे पाने का प्रयास हमें निरन्तर करते ही रहना चाहिए। सदा हमारी यही दृष्टि रहनी चाहिए कि हम मिथ्यात्व छोड़ें, सत्य की खोज करें और सम्यक्त्व ग्रहण करें। मिथ्यात्व छोड़कर झूठमूठ का सम्यक्त्व या एक दूसरा मिथ्यात्व अपने ऊपर लाद लेना सत्य की खोज की परिस्थिति से गिरी हुई परिस्थति है। एक आसन खाली रहे, यह अच्छा है, किन्तु उस आसन पर अपात्र को बैठाना बुरा है। कल्पना-जन्य शान्ति से जिज्ञासा-जन्य अशांति श्रेष्ठ है। असत्य विचार से अ-विचार उत्तम है। ज्ञान के उन्माद से अज्ञान की विनम्र अनुभूति अधिक गौरवास्पद है। येनकेन प्रकारेण कोरे खाने को भरना या कैसे भी अपात्र को खाली गद्दी पर बिठाना एक बड़ी मूढ़ता है जिससे बचे बिना सम्यकदर्शन प्राप्त हो सकना सम्भव नहीं है।

जिन तीन मूढ़ताओं का हमने उल्लेख व विवेचन ऊपर की पंक्तियों में किया है, सचमुच वे सम्यग्दर्शन-रूपी सूर्य की राहु हैं। उनमें उलझ कर विवेक-बुद्धि सदा ही पथ-भ्रष्ट हुई है और सम्यक्त्व की अप्रभावना व मिथ्यात्व की अन्धोपासना को बढ़ावा मिला है। चरित्र-निर्माण के लिए भय और प्रलोभन की निरर्थक 'सार्थकता' का बीज भी इन्हीं मूढ़ताओं में है। एक मिथ्यात्व का रहस्योद्घाटन होने पर प्रतियोगिता या झूठे संतोष के लिए अथवा अहंकार-तुष्टि के लिए दूसरे किसी नए, पर निराधार या अप्रामाणिक विचार को

या मिथ्यात्व को प्रतिष्ठित करने की जो भूल बड़े पैमाने पर होती है, उसका मूल भी यहीं है। सर्वज्ञवाद, इलहामवाद, अवतारवाद, ईश्वर-साक्षात्कारवाद तथा तज्जन्य प्रमाणवाद या ग्रन्थ-अपौरुषेयवाद इन्हीं मूढ़ताओं के परिणाम हैं। अन्ध-श्रद्धा को पालने-पोसने वाली सामग्री यहाँ भरपूर है।

मिथ्यात्वमयी इन मूढ़ताओं को समझने के बाद सम्यक्त्व या सम्यक्दर्शन की छानबीन अपनी उपयोगिता रखती है। अतः अब हम इसी दिशा में प्रयास करेंगे।

वास्तव में सम्यग्दर्शन कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका विश्लेषण रसायनिक पदार्थों की तरह किया जा सके। जल हाइड्रोजन और आक्सीजन, इन दो गैसों के विशेष अनुपात में संयुक्त होने से बनता है पर सम्यक्दर्शन किसी-भी अपेक्षा से और किसी-भी अनुपात में किन्हीं-भी अवयवों का ऐसा कोई प्रयोग नहीं है कि नपे-तुले रूप में उसका हिसाब दिया जा सके या कुछ सुनिश्चित विभागों या अंगों में विभक्त करके उसका ठीक-ठीक विवेचन किया जा सके। सम्यक्दर्शन एक बहती हुई धारा है जिसकी सार्थकता इसी में है कि वह बहती रहे और मानव-जीवन को सदैव रस-प्लावित बनाती रहे। सम्यक्दर्शन वस्तुतः एक ऐसी दृष्टि है जो जहाँ भी पड़े वहीं से असत्य, मिथ्यात्व व विकृति के ढेर में से सत्य को निकाल ले और उसे ग्रहण करले। ऐसी दृष्टि या धारा के कैसे विभाग, कैसे अंग और कैसे टुकड़े? वह अखण्ड है, असीमित है और अनन्त है। हाँ, विषय के स्पष्टीकरण के लिए अंग-विभाजन-निरूपण की पद्धति को काम में लिया जा सकता है।

हम यहाँ सम्यग्दर्शन को कुछ विभागों में बांटेंगे और एक-एक विभाग को सम्यग्दर्शन का एक-एक लक्षण कहेंगे। लक्षणों का क्रम महत्व या उपयोगिता की न्यूनाधिकता का क्रम नहीं है। एक-एक

लक्षण समान-रूप से महत्त्वशाली है, उसका न होना दृष्टि को मलिन बनाने के लिए पर्याप्त है। कोई भी एक लक्षण होने से ही दृष्टि सत्य-दृष्टि नहीं हो सकती। फिर, इन लक्षणों का पारस्परिक सम्बन्ध अति-घनिष्ठ है। मूलतः वे सभी एक हैं। समझने के लिए हम उन्हें अलग-अलग लेंगे, पर फिर भी उनके बीच सुनिश्चित सीमाएँ बाँधना असम्भव ही है। एक बात और है। लक्षणों की संख्या का प्रश्न मुख्य नहीं है। कोई न्यूनाधिक संख्या सुनिश्चित करके भी सम्यग्दर्शन का विवेचन कर सकता है। लक्षणों के नाम भी वह अपने अलग रख सकता है। नाम या पारिभाषिक शब्द, अथवा संख्या को लेकर आग्रह करना मिथ्यात्व है।

आइए, विचार-धारा के सहज प्रवाह को रोके बिना एक-एक लक्षण को लेते हुए हम आगे बढ़ें—

पहिला लक्षण—

सार्वत्रिकता—दृष्टि सार्वत्रिक हो, विशाल हो, अधिकाधिक व्यापक हो, विश्व व्याप्त हो। विचार का विषय कितने भी संकीर्ण से संकीर्ण क्षेत्र या जन-समुदाय से सम्बद्ध हो, उसकी पृष्ठ-भूमि अखिल विश्व हो। समस्या कोई भी हो, कितनी भी बड़ी या छोटी हो, वह विश्व-समस्या का ही एक अंग हो।

प्रश्न—विश्व से आपका क्या प्रयोजन है? कोई इस गोलाकार भूमि को ही विश्व मानते हैं, कोई तीन लोक मानते हैं, कोई असंख्य लोक मानते हैं। फिर, जैसे-जैसे खोज होती जाती है, ज्ञात विश्व का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। ऐसी अनिश्चित विवादग्रस्त विश्व-विषयक धारणा को कैसे दृष्टि-विस्तार का विषय माना जा सकता है?

उत्तर—विश्व से हमारा अभिप्राय मनुष्य द्वारा ज्ञात क्षेत्र है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष के भेद को वैयक्तिक दृष्टिकोण से कोई मूल्य नहीं दिया जा सकता। पर सामूहिक रूप से जो जगत प्रत्यक्ष है, वास्तव में वही विश्व है और हमारी दृष्टि-विस्तार का विषय भी वही होना चाहिए। अज्ञात क्षेत्र दृष्टि का विषय बन भी कैसे सकता है ? रही कल्पना या कोरी श्रद्धा की बात, सो इस में कोई प्राण नहीं है। सत्य-दृष्टि कोरी कल्पना या श्रद्धा के आधार पर टिककर काम नहीं किया करती। कल्पना को लेकर वास्तविक के प्रति उपेक्षा या सच्चाई का खून हो, यह कौनसी तुक है ? अज्ञात की बलिवेदी पर ज्ञात का बलिदान करना कहाँ की बुद्धिमानी है ? रह जाती है यह बात कि ज्ञात विश्व का क्षेत्र परिवर्त्तनशील है। ठीक है। एक समय अमरीका हम लोगों के लिए ज्ञात विश्व का अंग नहीं था इसलिए उस समय दृष्टि अमरीका को नदेखकर भी विश्व-व्याप्त हो सकती थी, पर आज अमरीका की एक चप्पा भूमि छोड़कर भी दृष्टि विश्व-व्याप्त नहीं हो सकती। चन्द्रमा तक अभी हम नहीं पहुंच सके हैं और न चन्द्रलोक का हाल ही विश्वसनीय रूप से कुछ मालूम है और न हम किसी तरह चन्द्रलोक में बसने वाले (यदि वहाँ प्राणी हैं) प्राणियों के जीवन को प्रभावित ही कर सकते हैं। इसलिए आज की विश्व-व्याप्त दृष्टि का विषय चन्द्रलोक नहीं बन सकता। पर कल वहाँ मनुष्य पहुंच जाय और उस जगत से नाता जुड़ जाय, तब दृष्टि को विश्व-व्याप्त होने के लिए चन्द्र-जगत को भी अपने क्षेत्र में लेना होगा। समय-समय पर यह क्षेत्र बढ़ सकता है और इस अपेक्षा से वह परिवर्तनशील है, पर यह नियम अपरिवर्तनीय ही है कि जितना भी ज्ञात जगत है, वह सब दृष्टि-विस्तार का क्षेत्र हो। एक समय का ज्ञात जगत उस समय की दृष्टि का क्षेत्र हो, तभी वह सत्य-दृष्टि है।

प्रश्न—तो क्या आपका यह आशय है कि चन्द्र, ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, सौर जगत आदि की समस्याओं को अपनी विचार-दृष्टि का विषय नहीं बनना चाहिए, और इनकी खोज बन्द कर देना चाहिए क्या विज्ञान की सहायता से विश्व-वृत्त को निरन्तर बढ़ाते रहने का प्रयास उपेक्षणीय है ?

उत्तर—हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वैज्ञानिक अनुसंधान या खगोल सम्बन्धी खोज को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाय। ग्रह-उपग्रह, चन्द्रमा, सौर-जगत, नक्षत्र, तारिकाएँ, आदि सम्बन्धी ज्ञान की निरन्तर वृद्धि होना ही चाहिए। ज्ञान का भण्डार जितना भी बढ़े, उससे लाभ ही है। पर हमारा आशय यही है कि हम अटकलबाज़ियों, कोरी कल्पनाओं या मात्र संस्कार-जन्य धारणाओं को लेकर ऐसे प्रवाह में न बह जायँ कि इस धरती पर की समस्याओं व उलझनों को या अपने जीवन की कठोर वास्तविकताओं को भुलादें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हम अदृश्य जगत की दुहाई को अपने ऊपर इतना न छाने दें कि इस मूर्तिमान जगत के हित को ही खटाई में डाल दें। वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रह-उपग्रह नक्षत्र आदि का जो भी अध्ययन होगा, उससे हमें अपनी समस्याओं को सुलझाने में एक हद तक लाभ ही हो सकता है, पर न हो तो भी हानि नहीं है। किन्तु अवैज्ञानिक दृष्टि से अन्धविश्वास-जन्य किसी परलोक-विषयक धारणा विशेष को लेकर या स्वर्ग-बहिश्त अथवा नरक-दोज़ख की कल्पनाओं व दुहाइयों के बल पर इस जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया जायगा, तो अवश्य ही अनर्थ ही अनर्थ होगा। बस, हम इतना ही चाहते हैं कि ऐसा अनर्थ न हो, कल्पना की वेदी पर वास्तविकता का बलिदान न हो।

प्रश्न—एक संकुचित क्षेत्र या जन-समुदाय से सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने के लिए सारे विश्व को सामने रखना किस तरह

उपयोगी है? आख़िर, एक वर्ग विशेष की आवश्यकताएँ व परिस्थितियाँ उसकी अपनी हैं, सारे विश्व से उन्हें बांधना कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी स्थान या वर्ग विशेष के प्रश्न उसकी विशेष परिस्थितियों व आवश्यकताओं को सामने रख कर ही हल किए जा सकते हैं। पर आवश्यकता इस बात की है कि वे प्रश्न इस तरह सुलझें कि और नए प्रश्न या उससे भी कठिनतर प्रश्न न खड़े हो जायं, और यह तभी सम्भव है जबकि वे इस तरह सुलझाए जाएं कि सामूहिक रूप से वे विश्वहित का साधन करें, अथवा एक स्थान या वर्ग विशेष का कल्याण करते हुए सामूहिक रूप से विश्व का अकल्याण न करें। एक भाग का विशेष लाभ अन्य भागों के लिए हानिप्रद हो तो इसमें सम्पूर्ण का अलाभ ही है। आवश्यकता या औचित्य की सीमा से अधिक लाभ हानि ही है। उदाहरण के तौर पर राष्ट्रीयता को लें जो आज की दुनिया में एक जीता-जागता प्रश्न है। राष्ट्रीयता के औचित्य की सीमा से अधिक लाभ की भावना ही साम्राज्यवाद या फासिस्टवाद की जन्मदात्री है। अपने को मनुष्य—केवल मनुष्य—मानकर एक दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि जो विनाशकारी शस्त्रास्त्रों व अणुबमों के निर्माण में मनुष्य की अपार शक्ति का अपव्यय हो रहा है, जो खून की नदियां आए दिन बहाई जाती हैं, जो भीषण युद्धों व महायुद्धों द्वारा भयंकर नर-संहार-लीला रचाई जाती है, उसका कारण है राष्ट्रीयता का उन्माद। फिर, इसकी तह में जो शोषणकारी अर्थ-व्यवस्था है, उसे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। बल्कि सच तो यह है कि राष्ट्रीयता के उन्माद की जड़ें वहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीयता का भूत सभी पर सवार है। यूं दुनिया भर की भलाई की बातें सभी करते हैं और उसकी ठेकेदारी का दम भी भरते हैं पर कितने ऐसे हैं जिनकी नीयत साफ़ है? कुछेक

को छोड़ कर सभी तेरे-मेरे के द्वन्द में पड़ कर, एक दूसरे के प्रति सन्देह व अविश्वास भरे हिंसा-प्रतिहिंसा के भावों को लेकर, अपने-अपने ढंग से इस दुनिया के रंगमंच पर नाच रहे हैं। आज का यह मनुष्याकार जन्तु पहिले एक राष्ट्र का नागरिक है, फिर मनुष्य है। वह भूल गया है कि मनुष्य सबसे पहिले मनुष्य है, जन्म जीवन और मृत्यु से मनुष्य है, मूलतः मनुष्य है, फिर और कुछ है, और वह 'और कुछ' होते हुए भी अमानवीय हरगिज़ नहीं है। इस तरह मानव की हैसियत से ही और मानवता की दृष्टि से ही अपने आपको और दुनिया को देखना मानव मात्र का कर्त्तव्य है। ऐसा किया जायगा तो राष्ट्रीयता का कुत्सित रूप दूर रहेगा और उसका वह सुन्दर व भव्य बाजू ही समक्ष रहेगा जो मानवता का अविरोधी ही नहीं, बल्कि उसका सहायक है। इस तरह अखिल विश्व को अपने सामने रखते हुए और किसी भी राष्ट्र को उसके एक अंग के रूप में ही देखते हुए उस राष्ट्र की समस्याओं को समुचित व निर्दोष रूप से सुलझाया जा सकता है। केवल उस राष्ट्र को ही सामने रख कर उन समस्याओं को सुलझाया जायगा तो ठीक-ठीक निर्णय न हो सकेगा। फिर, इस तरह की पद्धति से हमारी दृष्टि और भी निखरेगी, यहाँ तक कि फिर हम देशों और राष्ट्रों का भेद मिटाकर सम्पूर्ण संसार को ही एक राष्ट्र का रूप देने की ओर ध्यान देंगे और इस मार्ग में जितनी भी बाधाएँ हैं, उन्हें दूर करने की ओर अग्रसर होंगे, इसी तरह और छोटी-छोटी समस्याओं को सुलझाने के लिए हमें इसी नीति से काम लेना होगा। एक राष्ट्र के भीतर के छोटे-छोटे प्रश्नों को हल करने के लिए मानवतामयी राष्ट्रीयता को सामने रखना होगा। तब संकीर्ण जातीयता, प्रान्तीयता या साम्प्रदायिकता की छोटी-छोटी व तंग चहार दीवारियों से ऊपर उठने की प्रेरणा हमें मिलेगी, और हम तुच्छ व क्षणिक स्वार्थों को लेकर डेढ़ ईंट की अलग मसजिद बनाने की वृत्ति को नष्ट कर

सकेंगे। इस तरह एक व्यापक दृष्टि को लेकर जब हम छोटी चीज़ों को देखेंगे तभी हमें वास्तविकता का ठीक पता लग सकेगा। कुंए का मेंढक कुंए को ही सागर मान कर जो कुछ समझ सकेगा, उसका वास्तविक मूल्य क्या है? कितने भी संकुचित क्षेत्र से अपेक्षित प्रश्न पर विचार किया जाय, उसमें हानि नहीं है, हानि है संकुचित क्षेत्र में घिर कर विचार करने से। विषय की संकीर्णता बुरी नहीं है, दृष्टि की संकीर्णता बुरी है। सत्य या सम्यक्त्व पाने की यह पहली शर्त है कि दृष्टि अधिक से अधिक विशाल हो, विश्व-व्याप्त हो, यहाँ तक कि व्यक्ति के निजी प्रश्नों या व्यक्तित्व की अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए भी अथवा एक-एक व्यक्ति के स्वापेक्षित प्रश्नों को हल करने के लिए भी इसी व्यापक दृष्टिकोण से काम लिया जाय। यूं भी कह सकते हैं कि निजत्व के प्रश्न हल को परत्व में घटा कर देखने में ही वास्तविक निज-पर-हित का प्रश्न हल हो सकेगा और उस परत्व का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, हित-साधन उतना ही वास्तविक व स्थायी होगा।

प्रश्न—निजहित और परहित की खिचड़ी पकाने से परहित हो या न हो, निजहित खटाई में पड़ जायगा। संसार को छोड़कर आत्म-साधन करने में निजहित की पराकाष्ठा है। पर-हित का भुलावा मिटाने से निजहित का मार्ग प्रशस्त ही होता है। निवृत्ति ही सुख की कुंजी है, पर आप जिस दृष्टिकोण को रख रहे हैं, वह प्रवृत्ति-प्रधान है।

उत्तर—निजहित और परहित के प्रश्न को एकान्तवादी दृष्टि-कोण से देखने की प्रवृत्ति प्रायः रही है और है। एक पक्ष है यह कि निजहित ही सब कुछ है और प्रकारान्तर से परहित भी उसी में है। दूसरा पक्ष है यह कि पर-हित में ही निजहित है, परहित से

निरपेक्ष निजहित कोई चीज़ नहीं है। पर सत्य दोनों के मध्य में है। निजहित किए बिना परहित नहीं हो सकता, यह सत्य है क्योंकि जब अपना ही हृदय शुद्ध नहीं है, अपनी ही नीयत साफ़ नहीं है, अपना ही मार्ग हमारे सामने स्पष्ट नहीं है तो दूसरे को हम क्या मार्ग दिखायेंगे? पर दूसरों से दूर हटकर या स्वकेन्द्रित होकर भी निजहित की साधना नहीं चल सकती। आधिभौतिक हित-साधन के लिए तो निर्विवाद रूप से यह सर्व-मान्य है ही, पर सच यह है कि आध्यात्मिक हितसाधन की दृष्टि से भी यह एक खरी सच्चाई है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों व दुर्भावनाओं को या आत्मा के जितने भी दुर्गुण या विकार हैं, उनको निःशेष करने का यह अर्थ नहीं है कि नैमित्तिक दृष्टि से ही उन्हें अव्यवहार्य बना दिया जाय। उपादान रूप से ही विकारों को मिटाना सचमुच उन्हें मिटाना है। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति रहे जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि बुराइयों का क्रीड़ास्थल हो और वहां रहते हुए उन्हें दूर करने का अभ्यास सतत करता रहे और इस आन्तरिक संघर्ष के परिणाम-स्वरूप वह अपना हृदय इतना शुद्ध व निर्विकार बना सके कि उन सब परिस्थितियों में रहते हुए भी वह अलिप्त व अनासक्त रहे, जल में कमल की तरह भीतर रहते हुए भी ऊपर रहे, यह अवस्था ही सचमुच वीतरागता की अवस्था है। शान्त वातावरण में या एकान्तवास में साधना की तैयारी ही हो सकती है, सच्ची साधना नहीं हो सकती। साधना संघर्षमय है। तूफ़ान के बीच अचल बने रहना साधना है। वीतरागता की साधना राग-द्वेष के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते हुए उन पर विजय पाने में है। राग-द्वेष के वातावरण से या जग के कोलाहल से दूर भाग कर या संघर्षमयी साधना से परे हट कर कमज़ोरी को उभारने से रोका जा सकता है, पर भीतर बसी कमज़ोरी को दूर नहीं किया जा सकता। कषाय-भावना का उपशम नहीं, क्षय ही वास्तविक संयम है। उसे

मूल से मिटाना और उसके पुनः भीतर प्रवेश करने के मार्ग को अवरुद्ध करना ही सच्ची संयम-साधना व तपस्या है, और निश्चय ही ऐसी अवस्था संघर्ष के बीच में से निकल कर ही प्राप्त हो सकती है। रही यह बात कि परहित में ही निज-हित है, सो यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी है कि निजहित और परहित आपस में गुँथे हुए हैं। निजहित किए बिना परहित करने की क्षमता, योग्यता व पात्रता नहीं आ सकती और परहित किए विना निज-हित की साधना आगे नहीं बढ़ सकती। भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से निज-पर-हित का समन्वय ही परम सत्य है। निवृत्ति और प्रवृत्ति का सामंजस्य भी यहीं है। कोरी निवृत्ति अनावश्यक कष्ट-सहन ही नहीं है, विश्वहित की भावना, पर-हित की साधना और अन्ततः निजहित की सच्ची तपस्या के अनुकूल भी नहीं है। कोरी प्रवृत्ति भी इसी तरह एक-पक्षीय ही है। सत्य व कल्याण किसी एक में नहीं, दोनों में या दोनों के सम्मिलन में है। परिस्थिति विशेष को लक्ष्य में रखते हुए कभी एक पर ज़्यादह ज़ोर भले ही दिया जाय लेकिन सत्य-दृष्टि दोनों के सन्तुलित संयोग में ही है। एक बात और है। प्रकृति का नियम आदान-प्रदान है। यही नीति का आधार भी है। मैं किसी से कुछ लूं और लेता ही रहूँ, उसे कुछ न दूँ तो यह नहीं चल सकता। पारस्परिक लेन-देन के आधार पर यह संसार स्थित है, यह जीवन टिका हुआ है। एक व्यक्ति संसार का 'परित्याग' करे या जग को मिथ्या या माया कह कर उससे नाता तोड़े, पर इसके बाद भी वह दुनिया से लेता ही रहे, और उसे देने का नाम न ले, तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा ही है। जो दुनिया को देने के कर्त्तव्य को भुला बैठा है, वह दुनिया से लेने के अधिकार का भी उपयोग नहीं कर सकता। कर्त्तव्य और अधिकार की जोड़ी है। जिस व्यक्ति का दुनिया के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उसका दुनिया पर कोई

अधिकार भी नहीं है। कर्त्तव्यहीन अधिकार का उपयोग शोषण है, अन्याय है, पाप है। हम देखते हैं कि एक निवृत्तिवादी यद्यपि यह दावा करता है कि उसने संसार का त्याग कर दिया है और इस दावे को लेकर बड़े अभिमान के साथ कह दिया करता है कि उसे संसार से क्या प्रयोजन है, पर सच यह है कि पूरी तरह वह संसार पर या समाज पर निर्भर है। उसकी सारी दिन-चर्या व सारी जीवन-व्यवस्था अथवा उसकी साधना का सारा कोर्स समाज की कृपा, उदारता या दानशीलता पर अवलम्बित है। उसकी खान-पान की अत्यधिक शुद्धि, अत्यन्त असुविधापूर्ण व टेढ़ी-मेढ़ी आहार-विहार-विधि, तथा उसकी सभी क्रियाओं व व्यवस्थाओं में प्रायः इतना बनावटीपन है कि समाज के सहारे के बिना वह एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। वह पूरी तरह परावलम्बी है। भला, ऐसी पराश्रय की स्थिति में स्वकेन्द्रीकरण कहां तक नीतियुक्त और उचित कहा जा सकता है? हाँ, जिस अप्रमत्त अवस्था की कल्पना निवृत्तिवाद ने की है, उसमें परावलम्बन नहीं है, पर वह अवस्था कहां तक व्यवहार्य है, यह एक प्रश्न है। और, जब तक उसका कोई प्रत्यक्ष उदाहरण सामने नहीं है या कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, उसे व्यावहारिक मूल्य नहीं दिया जा सकता, अधिक से अधिक उसे एक भव्य कल्पना ही कहा जा सकता है। उसे लेकर आज कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है। हमारे सामने जो प्रश्न खड़ा है वह सीधा-सादा है। वह है यह कि जो संसार को न दे, वह संसार से ले भी नहीं सकता, उसे लेने देना भी नहीं चाहिए। समाज की सेवा, विश्व की कल्याण-साधना, इन सद्-वृत्तियों-प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता या अरुचि होना ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए शोभनीक नहीं है जिसकी साधना के ताने-बाने का एक-एक तार समाज की देन है। दुनिया को देख कर जिसे नाक-भौं सिकोड़नी है, उसका समाज में रहना,

समाज पर टिक कर रहना, क्षम्य नहीं है। किसी को किसी पर भार बनने का अधिकार नहीं है। स्वावलम्बन सामाजिक जीवन की आधार-शिला है। जो इस शिला के टुकड़े-टुकड़े करता है, वह समाज-व्यवस्था की जड़ों को हिलाता है, मानव-जीवन को रौंदता है। वह समाज अभागी है जिसमें ऐसे व्यक्तियों का बाहुल्य है। ऐसे व्यक्ति निश्चय ही भू-भार हैं, सामाजिक न्याय की दृष्टि से अपराधी हैं। खैर, किसी भी दृष्टि से देखें, हम इसी निर्णय पर आयेंगे कि निजहित में परहित है, और परहित में निजहित है। निज-पर का यह समन्वय ही व्यक्ति और समाज का सामंजस्य है, निवृत्ति और प्रवृत्ति का संयोग है, और यहीं वह सत्य स्थित है जिसमें अटूट विश्वास रखना सत्य-दृष्टि की ऐसी मांग है जो पूरी होनी ही चाहिए।

प्रश्न—क्या आप यह नहीं मानते कि प्रवृत्ति मात्र करने से कर्म-बन्धन होता है, जबकि कर्म-बन्धन से मुक्त होना ही आदर्श माना जा सकता है? आखिर, बुद्ध महावीर आदि अनेक महात्माओं ने निवृत्ति-मार्ग का ही प्रतिपादन किया था और उनका स्वयं का जीवन इसका मूर्तिमंत रूप भी था?

उत्तर—कर्म-बन्धन से मुक्त होने का अभिप्राय निष्क्रिय या जड़वत् बन जाना नहीं, वरन् कर्म की आसक्ति को अथवा कर्म से सम्बद्ध मोह माया ममत्व आदि के विकार-भावों को मिटाना ही है। कर्म में अकर्म की तटस्थता व विकर्म की उपेक्षा हो तो वहां कर्म बांधता नहीं है, बल्कि बन्धन से मुक्त ही करता है। यही कारण है कि जिन महात्माओं ने निवृत्ति पर ज़ोर भी दिया है, यहां तक कि जीवन के चरम उद्देश्य को उन्होंने निवृत्यात्मक ही माना है, वे अन्तिम श्वास तक कर्म-रत रहे हैं। महावीर को ही लें जिन्होंने सबसे अधिक निवृत्ति पर ज़ोर दिया और अपनी सारी फ़िलासफ़ी को निवृत्तिवाद

पर ही टिकाया। महावीर को हम एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हुए देखते हैं। 'केवलज्ञान' प्राप्त हो जाने के अनन्तर भी वे स्थिर होकर एक स्थान में नहीं रह सके। जहां उन्हें 'केवलज्ञान' की प्राप्ति हुई, वहां उपदेश ग्रहण करने वाला कोई नहीं मिला, अतः वे वहां से चल दिये और विहार करके जहां विद्वान लोग एकत्रित थे, वहां पहुँचे और उन्हें उपदेश दिया। उन्होंने गणधरों व शिष्यों का संघ बनाया, संगठन किया और तीर्थ-स्थापना की। यह सब क्या है, यदि जनहितकारी प्रवृत्ति नहीं है? हां, यह बात ज़रूर है कि यहां प्रवृत्ति का क्षेत्र व्यापक है। यहां परिवार का बन्धन है ही, पर वह परिवार है समस्त मानव-जाति का। महावीर ने अपने परिवार का त्याग किया, पर इस त्याग में से उन्होंने मानव-समाज को, बल्कि समस्त प्राणीजगत को, अपने वृहद परिवार के रूप में ग्रहण किया। जिस दिव्य ज्ञान के प्रकाश से उनके अन्तस्तल या अन्तर्मन में उजाला हुआ था, उसका प्रकाश चारों ओर फैला कर व्याप्त अन्धकार को मिटाने की दिशा में वे जीवन-पर्यन्त बढ़ते ही रहे, चारों ओर घूमकर संगठन व प्रचार में व्यस्त ही रहे। इस तरह उनके ममत्व का विस्तार हुआ। उनका कुटुम्ब दस-पांच व्यक्तियों का नहीं रह गया सारा संसार उसमें समा गया। स्पष्टतः ममत्व का यह ऊर्ध्वीकरण या शुद्धीकरण जहां निवृत्तिमूलक है, वहां प्रवृत्त्यात्मक भी है ही। अतः महावीर जैसे निवृत्तिवादी को भी हम प्रवृत्ति में रत पाते हैं और तब इस सत्य का दर्शन करते हैं कि प्रवृत्ति मात्र कर्मबन्धन नहीं है। अतः आदर्श की अनिष्पत्ति कर्म में नहीं, कर्म की अनासक्ति में है, भीतरी निवृत्ति में है, बाहर की प्रवृत्ति से उसका विरोध नहीं है।

प्रश्न— दृष्टि विश्व-व्याप्त हो, क्या इसका यह अभिप्राय है कि एक और अखण्ड मानवता इसका आधार हो?

उत्तर—वास्तव में सत्य दृष्टि को अपेक्षा प्राणी मात्र से है, मानव से ही नहीं। मानव एक प्राणी ही है और इस अपेक्षा से वह अमानव प्राणियों से बिल्कुल अलग भी नहीं है। चेतना प्राणी मात्र का गुण है। जहां चेतना है, वहां सुख-दुख की अनुभूति है। मानव सुख चाहता है, दुख से बचना चाहता है। इस मानवीय अनुभव के आधार पर यह सहज ही समझा जा सकता है कि हरेक प्राणी सुख में प्रवृत्ति और दुख से निवृत्ति के लिए इच्छुक है और हरेक प्राणी का आचरण इस तथ्य की पुष्टि भी करता है। ऐसी स्थिति में आदर्श, प्राणी मात्र का सुख ही कहा जा सकता है। सर्वान्तः सुखाय, सर्वोदय या विश्व-कल्याण इसी का नाम है। सामूहिक रूप से समस्त चेतन जगत का सुख या अधिकतम प्राणियों का अधिकतम सुख भी इसे कहा जा सकता है। पर प्राणी मात्र के प्रश्न को लेकर बड़ी कठिनाइयां हैं, बड़ी मजबूरियाँ हैं। फिर, प्राणी-जगत बहुत कुछ अभी अज्ञात है। मनुष्य इस दिशा में आगे बढ़ रहा है, अनुसंधान कर रहा है। पर अभी वह बहुत कम जानता है, बहुत अधिक अभी उसे जानना शेष है। ऐसी स्थिति में सूक्ष्म रूप से आदर्श को शिरोधार्य करते हुए भी तथा जहाँ तक व्यवहार्य हो, उसे मान्य करते हुए भी एक और अखण्ड मानवता का आदर्श ही उसके लिए अधिक स्पष्ट है और इसी कारण वह विशेष प्रेरणा-जनक व महत्त्वपूर्ण है। मानव-जीवन का प्रश्न ही यद्यपि उसके सामने नहीं है और न होना ही चाहिए, पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यही प्रश्न उसके सामने सबसे अधिक महत्त्वशाली व मूल्यवान है। इस अपेक्षा से बहुत हद तक सन्देह की सम्भावना के परे यह कहा जा सकता है कि एक और अखण्ड मानवता विश्व-व्याप्त दृष्टि से अपेक्षित हो, यह अनिवार्य है।

प्रश्न—छोटी-छोटी समस्याएँ विश्व-समस्या का अंग हों, यह मानने से ऐसी दलबन्दियों या ऐसे बंधनों व भेदभाव की

खाइयों को, जिनकी न कोई उपयोगिता है और न जो प्राकृतिक या स्वाभाविक ही हैं, अनुमोदन मिलता है। होना यह चाहिए कि ऐसी निकम्मी समस्याएँ ही न रहें अथवा विश्व-समस्या का अंग बन कर भी न रहें, क्योंकि ऐसा होने से भी उन्हें प्रश्रय व प्रोत्साहन ही मिलेगा।

उत्तर—निस्संदेह अप्राकृतिक, अस्वाभाविक और निरर्थक सीमाओं को मान्यता न मिलनी चाहिए। वे सब दीवारें धराशायी कर देनी चाहिए जिनकी कोई उपयोगिता नहीं है। ऐसे सब संगठन तोड़ देने चाहिए जो मानव-हित और विश्व-हित के शत्रु हैं। विश्व-समस्या का अंग बनाने से यह भाव नहीं है कि जो समस्या उसका अंग बनने की क्षमता ही नहीं रखती है, वह भी उसका अंग बन कर प्रश्रय पाए। आखिर, नियम का ठीक-ठीक पालन तो विवेक-बुद्धि पर ही अवलम्बित है। फिर, किसी समस्या को विश्व-समस्या का अंग बनाना उसका अनुमोदन करना है, ऐसी धारणा भ्रममूलक है। व्यक्तित्व, परिवार, राष्ट्र, आदि प्राकृतिक बन्धनों को लेकर जो समस्याएँ हैं, उन्हें विश्व-समस्या की गोद मिलनी ही चाहिए। पर कुछ मानव की बनाई हुई भी ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें अनुपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। समाज आखिर एक ऐसी ही व्यवस्था है। जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि भी मनुष्य की बनाई हुई चीज़ें हैं। मौलिक दृष्टि से इन्हें मान्यता या विशेष मूल्य देने के लिए गुंजाइश नहीं है, नियम रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। समाज या मनुष्य की सामाजिकता एक विराट सत्य के रूप में हमारे सामने है। उसे कृत्रिम कह कर उसका उपहास हम नहीं कर सकते। अन्य अनेक संस्थाओं के विषय में भी कम-ज़्यादह इसी तरह की बात है। हर हालत में व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें लेकर विचार करना ज़रूरी ही है और इसका अर्थ उसका अनुमोदन नहीं है। आदर्श की प्रतिष्ठा

वास्तविकता की अवहेलना में नहीं है, बल्कि वास्तविकता से जूझने में है। प्रयत्न का विषय क्या है, या प्रतिद्वन्द्वी कौन है, इसको लेकर नहीं, बल्कि प्रयत्न की दिशा क्या है, अथवा द्वन्द्व के पीछे क्या भावना व उद्देश्य है, इसे लेकर ही यह कहा जा सकता है कि आदर्श-साधना की जा रही है या नहीं सत्य दृष्टि वहां है या नहीं ? यदि दिशा ठीक है, यदि भावना अच्छी है, यदि उद्देश्य उत्तम है, तथा यदि व्यापक या वृहद् समस्या को भुलाने या उपेक्षित करने की दृष्टि नहीं है, तो प्रयत्न कितना भी छोटा हो, तथा उसका क्षेत्र कितना भी संकुचित हो, दृष्टि वहां विश्व-व्याप्त है और सत्य वहाँ विद्यमान है।

दूसरा लक्षण—

सार्वकालिकता—दृष्टि सार्वकालिक हो। काल विशेष की समस्याओं पर विचार करते समय भी महाकाल सामने हो। नवीनता का उन्माद न हो, प्राचीनता, परम्परा व रूढ़ि का मोह न हो। भविष्य की कल्पना वर्तमान को प्रेरणा दे पर अनुचित रूप से वह वर्तमान पर आच्छादित न हो। भूत वर्तमान को अपनी देन दे, पर उसका अन्धानुकरण वर्तमान को न बहकाए। भूत, वर्तमान और भविष्य एक लड़ी में गुंथे हुए हों और महाकाल की यह त्रिकाल-माला मानव-बुद्धि पहने और धन्य हो।

प्रश्न—आखिर, नवीन और प्राचीन में श्रेष्ठ कौन है ? कौन सत्य के ज्यादह निकट है ?

उत्तर—नवीन में प्राचीन की अपेक्षा ये तीन गुण मिलना अधिक सुलभ है—

(१) **समयानुकूलता**—नवीन वर्तमान परिस्थिति से अपेक्षित होता है, प्राचीन नहीं, अतः नवीन प्राचीन से अधिक समयानुकूल हो, यह बहुत स्वाभाविक है।

(२) **विकार-न्यूनता**—नवीन के ताज़ा होने से उसमें विकृति की गुंजाइश कम है या उसके अपने असली रूप में मिलने की संभावना है, जबकि प्राचीन के विषय में ऐसी संभावना कम है या नहीं के बराबर है।

(३) **ज्ञानानुभव-पीठबल-बाहुल्य**—प्राचीन की अपेक्षा नवीन के पीछे ज्ञान और अनुभव का पीठबल ज्यादह होता है और इस कारण नवीनता में कुछ विशेषता होना स्वाभाविक है।

दूसरी ओर नवीन की अपेक्षा प्राचीन में ये गुण अधिक होना स्वाभाविक है—

(१) **विश्वसनीयता**—जो प्राचीन अभी तक चला आया है, वह अनेक अच्छी-बुरी परिस्थितियों व संकटों में से गुज़र चुका है, अनेक विरोधों, विद्रोहों व प्रहारों पर विजय प्राप्त कर चुका है। फिर, समय-समय की परिस्थिति के अनुसार उसमें कम ज्यादह कुछ भी परिवर्तन नहीं होता रहा है, ऐसा भी नहीं है। अतः नवीन की अपेक्षा प्राचीन अधिक विश्वसनीय है।

(२) **वास्तविकता**—नवीन में भविष्य की कल्पना का समावेश अधिक होना बहुत संभव है, प्राचीनता में कम, क्योंकि प्राचीनकाल की अपेक्षा से जो भविष्य था, वह बीत चुका है या बीत रहा है। कल्पना की पुट कम होने से प्राचीनता की पुट ज्यादह हो सकती है। यह बहुत संभव है कि आज कोई प्राचीन नवीन से

अधिक अनुकूल हो जब कि नवीन आज के लिए नहीं, भविष्य के लिए अधिक अनुकूल या उपयुक्त हो।

फिर, प्राचीन में नवीन की अपेक्षा एक यह अच्छाई है कि उसको अपनाने में एक तरह की स्थिरता है जब कि नवीन को अपनाने में समय-समय पर नए-नए नवीन को अपनाते रहने की वृत्ति मौजूद है, और इस तरह बे-पेंदी का लोटा बनने की जैसी स्थिति वहाँ है। पर इस अच्छाई में एक बुराई भी है और वह है अपरिवर्तन-शीलता। प्राचीन को अपना कर अहित अवश्यम्भावी ही नहीं, स्थायी हो सकता है, जब कि नवीन को अपनाने में परिवर्तन द्वारा अहित को हित में बदलने की सम्भावना है। दोनों ओर यह अच्छाई और बुराई समान रूप से विद्यमान है।

इस तरह और भी गुण-दोष नवीन और प्राचीन में हैं और उनके अपवाद भी हैं। सामूहिक रूप से न नवीन को ही श्रेष्ठ कहा जा सकता है, न प्राचीन को ही। नियम रूप से दोनों को समान ही कहना होगा। वास्तव में दोनों अच्छे हैं, दोनों बुरे हैं। कहीं नवीन अच्छा है कहीं प्राचीन अच्छा है। नवीनता-प्राचीनता का अच्छाई-बुराई से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, न सत्यासत्य से ही उसका कोई सुनिश्चित सम्बन्ध है जो लोग प्राचीनता की दुहाई देकर पुरानी गई-बीती चीज़ों से चिपके रहते हैं और अच्छी से अच्छी नई चीज़ को छूते भी नहीं हैं, वे जितना भूलते हैं, उतना ही भूलते हैं वे लोग जो नवीनता के उपासक बन कर पुरानी चीज़ पर नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं और पुरानी अच्छी चीज़ को छोड़ कर नई खराब चीज़ों को भी ग्रहण करते हैं। ऐसे आदमी नवीनता या प्राचीनता के मोह में पड़ कर अपना अहित करते हैं और सत्य ग्रहण नहीं कर पाते हैं। नवीन और प्राचीन दोनों सत्य के निकट हैं और दूर भी हैं। आवश्यकता है विवेक से काम लेने की, अन्तर्दृष्टि से देखने

की, नवीनता का उन्माद और प्राचीनता का मोह त्याग कर वस्तु-स्थिति का ठीक-ठीक अध्ययन करने की।

प्रश्न—तो क्या नवीन और प्राचीन का मोह समान रूप से सम्यक्तत्व-ग्रहण में बाधक है ?

उत्तर—जहाँ तक नवीन और प्राचीन की अपनी-अपनी मोहक शक्ति का प्रश्न है, दोनों ही सत्य ग्रहण में समान रूप से बाधक हो सकते हैं, पर व्यवहार में प्रायः बाधक प्राचीनता का मोह ही रहा है, और है। यही कारण है कि सत्यासत्य की दृष्टि से नवीनता और प्राचीनता एक स्तर पर होते हुए भी प्राचीनता के मोह को दूर करने पर ही ज्यादह ज़ोर प्रायः दिया जाता है, और दिया ही जाना चाहिए। यह प्राचीनता का मोह ही परम्परावाद या रूढ़िवाद है, और मानव-स्वभाव की यह एक ऐसी कमज़ोरी है जो सदा ही रही है और अभी भी है। कहावत है कि दूर के ढोल सुहावने होते हैं। यह कहावत जहाँ स्थान की अपेक्षा से ठीक है, वहाँ काल या समय की अपेक्षा से भी उतनी ही ठीक है। बहुत प्राचीनकाल में जंगली मनुष्य वृद्ध मनुष्य के मरने पर वर्षों तक उसकी लाश को रखते थे और उसकी पूजा किया करते थे। पूर्वजों के प्रति सन्मान व श्रद्धा के भाव रखना मानव-हृदय की नैसर्गिक वृत्ति है पर यह भी मानव-स्वभाव की एक विशेषता है कि वह सहज ही अपनी वृत्तियों को अच्छाई से बुराई की ओर या गलत रास्ते पर ले जाए। उसकी इसी कमज़ोरी ने सदा प्रेम को मोह में और श्रद्धा को अंध-श्रद्धा में परिणत किया है। मृत वृद्ध के देह की पूजा ऐसा ही मोह या अंध-श्रद्धा है। ऐसे परम्परावाद या रूढ़िवाद में प्रगति या सृजन नहीं है। यह रचनात्मक नहीं, बल्कि एक निषेधात्मक विधान है। रूढ़िवादी समझते हैं कि हमारे पूर्वज ऐसा करते चले आए हैं,

हमारे पुरखों ने यह रूढ़ि चलाई है, इसलिए यही ठीक है। इनका मूलमंत्र है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' इनके लिए अतीत काल बड़ा अच्छा था और तब की बातें अब तक वैसी ही चली आ रही है। समय के साथ सभी में परिवर्तन होता है, प्रत्येक क्षण कण-कण में अविराम परिवर्तन होता रहता है और कोई भी इस नियम का, इस सार्वत्रिक व सार्वकालिक प्राकृतिक नियम का, अपवाद नहीं है और स्वयं वे रूढ़िवादी भी नहीं हैं, पर इस सचाई से आँखें मूंद कर वे अतीत के विरह में लम्बी-लम्बी सांसें लिया करते हैं, मानो भूत को प्राप्त करना ही उनके वर्तमान का ध्येय हो। इन्हें स्वकाल में प्राचीन काल के अंधानुकरण के अतिरिक्त कोई सार तत्व ही नहीं दिखता है। ये रूढ़िवादी प्रतिक्रियावाद के गढ़ में घिरे रह कर अवसर्पणवाद को अपनाते हैं। वे पतन में विवशता व भ्रमजन्य सन्तोष देखते हैं और उन्नति के प्रयत्न को विडम्बना समझते हैं। वे सदा पुरखों की बुद्धिमत्ता की ही दुहाई दे-देकर हर नवीन का और हर परिवर्तन का उपहास करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि हमारे पुरखों के पास जितनी पूंजी थी वह तो हमें मिली ही है पर साथ ही इतने समय में जगत ने जो अनुभव और ज्ञान कमाया है. वह भी पूंजी के रूप में हमें मिला है और ऐसी हालत में व्यक्तित्व की दृष्टि से न सही, पर ज्ञान व अनुभव की दृष्टि से हम आगे बढ़ सकते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वे प्रगति तो क्या करेंगे, जीवित रहने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ भी बनाए नहीं रख सकते। जीवन टिका रहे, इसके लिए ज़रूरी है कि शरीर नए भोजन को पचा सके और पुराने भोजन से उसका सार लेने के बाद जो मल बचा है, उसे दूर कर सके। इनमें से एक भी क्रिया बन्द हो जायगी तो जीवन नहीं रह सकेगा, मृत्यु हो जायगी। प्राचीनता के मोही या रूढ़िवादी में ये दोनों ही क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं और इसके परिणाम-स्वरूप न वह नवीन सत्य ग्रहण कर पाता है और न प्राचीन असत्य ही हटा पाता है। इस तरह प्राचीनता का मोह

विनाशकारी है और इसकी व्यापकता इसकी विनाशकारिता को और भी अधिक बढ़ा देती है। यही कारण है कि इसे हटाने पर ही ज्यादह ज़ोर दिया जाता है और हमने सत्य-ग्रहण में इसे ही अधिक बाधक कहा है।

प्रश्न—प्राचीनता का मोह मिटाने के लिए क्यों न वर्तमान की अपेक्षा भूत को, नवीन की अपेक्षा प्राचीन को, निम्न कहा जाय? तत्व की दृष्टि से न सही, पर नीति की दृष्टि से क्या यह उचित न होगा?

उत्तर—असत्य और 'नीति' का साथ अकल्याणकारी है। असत्य के साथ अनीति है और अनीति से कभी कल्याण नहीं हो सकता। हम पहिले विचार-पूर्वक इस निर्णय पर आ चुके हैं कि सत्य ही कल्याणकारी है, असत्य सदैव अकल्याणकारी ही है। फिर, भूत का अपमान वर्तमान का अपमान है, क्योंकि आज का वर्तमान कल भूत बनने वाला है। पूर्वजों का अनादर हमारा अपना अनादर है क्योंकि भविष्य में हम भी पूर्वज बनने वाले हैं। आज के पूर्वज की निंदा आने वाले कल के पूर्वज की या स्वयं की निंदा ही तो है। साथ ही कितनी कृतघ्नता है यहाँ? हम आज जो कुछ हैं, उसका श्रेय हमारे पूर्वजों को है। हम उन्हीं की हड्डियों पर आज का महल खड़ा हुआ देखते हैं। वर्तमान भूत के गर्भ में से ही निकला है। एक क्रम चला आ रहा है अनादि काल से आज तक और वह आगे भी चलता रहेगा। भूत ने वर्तमान को बनाया है और भूत व वर्तमान मिल कर भविष्य को बनायेंगे। प्रकृति का यही नियम है। इस तरह सच तो यह है कि भूतकाल श्रद्धा की चीज़ है, पूर्वज आदरणीय हैं। स्वप्न में भी उनके विषय में अनादर या अश्रद्धा की कल्पना करना एक भयंकर असत्य को प्रश्रय देना है। हमारा रोम-रोम पूर्वजों का ऋणी है, यह सत्य उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पर हाँ, इसका

यह अर्थ नहीं है कि भूतकाल या पूर्वजों के प्रति अंधश्रद्धा रखी जाय या उनका अन्धानुकरण किया जाय। हमें उनका सपूत बनना है, कपूत बन कर नहीं रह जाना है तो जिस पथ पर वे चलें, उस पर हमें आगे बढ़ना होगा और उनकी दी हुई पूंजी को बढ़ाना होगा। समयोपयोगी परिवर्तन हमें करना और करते रहना ही होगा। जिसकी दृष्टि में समय की कोई स्थिरता नहीं है, जो केवल काल-स्रोत में बह जाने के लिए ही नहीं आया है कि पतवार छोड़ कर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे, जिसके महत् मनुष्यत्व के आदर्श को काल-प्रवाह के बीच विशाल पर्वत की तरह अचल बने रहना है, उसमें डूबना नहीं है, जो अच्छी तरह यह सरल सत्य समझ गया है कि सभी नियम व विधान, जो मनुष्य को घेरे रहते हैं, केवल एक परिमित समय के लिए ही, अथवा एक विशेष परिस्थिति में ही मनुष्य को शरण दे सकते हैं और तत्पश्चात् यदि वे बदलते नहीं हैं तो वे ही जीवन के लिए कारावास के समान बन जाते हैं, ऐसा व्यक्ति मिथ्या स्वरूप का विनाश करने में सदा सतर्क व सचेष्ट है और उसकी सत्य-दृष्टि—सार्वकालिक दृष्टि—सदैव भूत में से रस निकालती है, वर्तमान को वह रस पिलाती है और इस प्रकार भविष्य को पल्लवित करती है। भूत भविष्य व वर्तमान, सभी से उसका नाता है, महाकाल उसका चिर-सखा है।

तीसरा लक्षण—

समभाव—दृष्टि समभावी हो। दृष्टिधारी के हृदय में प्राणी मात्र के प्रति, मानव मात्र के प्रति, नर-नारी के प्रति, समान सहृदयता व आत्मीयता का विचारानुमोदित स्थायी भाव हो। पक्ष-पात की दुर्भावना, मोह या द्वेष की कालिमा, दुःस्वार्थ की दुर्गन्ध तथा संस्कारों की अंधदासता न हो। जो भी प्रश्न सामने आए,

सहज सहानुभूतिपूर्ण तटस्थता और हंस-विवेक रख कर, उस पर विचार करने की क्षमता हो।

समभाव एक अनुभूति है, एक भावना है, और उसका वृत्त जितना विशाल है, उतना ही वह महान् है। संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रम कर समभाव फैलता ही नहीं है, मंझता और निखरता भी है, और अंततः सर्वत्र व्याप्त होकर समभाव सम्पूर्ण जगत के प्रति एक-सी सहृदयता व सहानुभूति की भाव-धारा प्रवाहित कर मन-मस्तिष्क को असीम व अनन्त प्रेम की गहराइयों में डुबो-डुबो कर ऐसा विकसित व परिष्कृत कर देता है कि अंतर्लोक आलोकित हो उठता है और अंतर्मुखी नेत्र खुल कर उस आलोक में सारभूत तथ्य और यथार्थ पा लेते हैं। यही समभाव की परम उत्कृष्ट अवस्था है और यही कैवल्य, बुद्धत्व या स्थित-प्रज्ञता की सर्वोच्च जीवन-साधना की आधार-शिला है।

प्रश्न—क्या आपका यह मत है कि संकीर्ण सीमाओं में घिरा हुआ समभाव भले ही उत्कृष्ट न हो, पर समभाव है, और इस अपेक्षा से वह ग्राह्य है?

उत्तर—नहीं। वास्तव में असीम समभाव ही पूर्ण शुद्ध व वास्तविक समभाव है, क्योंकि समभाव यदि सीमाबद्ध है तो सीमा से बाहर जो कुछ है, उसकी अपेक्षा से वह विषमभाव ही है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि छोटी-छोटी चहार-दीवारियों में घिरा हुआ 'समभाव' एक दुःस्वार्थ-भाव है, जब कि दूर-दूर तक फैला हुआ समभाव एक परमार्थ-भाव है। पहिला त्याज्य है, दूसरा ग्राह्य है, ठीक उसी तरह जिस तरह मोह या सिकुड़ा हुआ प्रेम हेय है और प्रेम या फैला हुआ मोह उपादेय है। अतः समभाव की

कल्याणकारिता उसके संतुलन में ही नहीं है, उसकी विस्तीर्णता में भी है, बल्कि गहरी नज़र से देखा जाय तो उसका संतुलन उसकी विस्तीर्णता पर ही आश्रित है।

प्रश्न—तो क्या समभाव की कोई सीमा या मर्यादा ही नहीं है ?

उत्तर—समभाव निर्दोष विचार-प्रक्रिया का प्राण है। यह न हो तो विचार करने की सारी प्रणाली एक विडम्बना ही है। पर यह समभाव दृष्टिगत है, भावना-मूलक है, अनुभूतिमय है। वह स्वयं कोई मत, वाद या नपा-तुला सिद्धान्त नहीं है। इस अपेक्षा से क्षेत्र-काल की कोई सीमा न होते हुए भी इसके औचित्य की मर्यादा है, और वह है मोटे रूप में यह कि वह दृष्टि या भावना ही बना रहे, 'मत' या 'वाद' न बने। जब भी वह इस मर्यादा का अतिक्रम करेगा, वहाँ समभाव की अति या विकृति सत्य-शोधन व सत्य-ग्रहण की सच्ची साधना को अव्यवहार्य बना देगी। औचित्य की इस मर्यादा का उलंघन करने वाला 'समभावी' मानों ऐसे फूल को सूंघता है जिसमें महकाने वाली सुगन्ध तो है, पर साथ ही मस्तिष्क को सड़ाने वाले सूक्ष्म कृमि भी हैं। भावना कितनी भी अच्छी हो, वह बहक जाए, तब बुरी है, बहुत बुरी है। बहका हुआ समभाव अग्राह्य व हेय ही है, क्योंकि यहां दृष्टि-विभ्रम है, तोड़-मरोड़ है, खींचातानी है, और है समन्वय का उन्माद मात्र।

प्रश्न—समन्वयात्मक वृत्ति निर्दोष ही नहीं, परम सात्विक है। अतः स्थायी रूप से वह अपने दृष्टि-बिन्दु का आधार बने तो यह उचित ही है। उसे उन्माद कहना या उससे हानि होने की कल्पना करना ही असंगत है।

उत्तर—निश्चय ही समन्वयात्मक वृत्ति एक ऊँचे स्तर की मनःस्थिति का तत्व है, पर वह तभी जब समन्वय का आधार सत्य हो या जब समन्वय सत्यांशों के बीच हो। पर बहका हुआ समभावी सत्य असत्य के बीच भी समन्वय करने लगता है और इस धुन में वह देव और असुर को, फरिश्ते और शैतान को, बराबर-बराबर बिठा कर, उनकी आरती उतारने और उनमें समझौता कराने की 'उदारता' बरतने लगता है। उसकी इस नीति या 'फ़िलासफ़ी' के कई दुष्परिणाम होते हैं, जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

[१] फटे कपड़े में थेगड़ी लगा-लगा कर या जीर्ण-शीर्ण मकान की मरम्मत कर-कर के उसे काम-चलाऊ बनाने की कृपण-बुद्धि आ जाती है, नया कपड़ा या मकान बनाने की ओर ध्यान नहीं जाने पाता है, और इस तरह 'समभावी' ढिल-मिल और पस्त-हिम्मत बन जाता है, 'संयम' और वाणी की मिठास के लिए वह स्पष्टवादिता या नग्न सत्य की 'कटुता' को छोड़ बैठता है और आमूल परिवर्तन या क्रान्ति उसके लिए भयावह ही नहीं, दुःसाध्य बन जाती है। ऐसा व्यक्ति एक दक़ियानूसी पुरातनवादी न होकर भी पुरातनवाद के 'चक्र-व्यूह' से नहीं निकल पाता है। वह 'विनाश' जो मंगलकारी नव-निर्माण की भूमिका है और जो अत्यावश्यक, बल्कि अनिवार्य है, उसके लिए असुन्दर हो उठता है।

[२] यह भ्रान्त धारणा बन जाती है कि संसार में जब भी जो कुछ होता है, वह अपने समय व स्थान के लिए यथोचित ही होता है, अनौचित्य देरी से उसमें आता है, जब कि वस्तु-स्थिति यह है कि जहाँ संसार में सद्भावनाओं ने अपना खेल खेला है, वहाँ दुर्भावनाओं ने भी अपना काम किया है, अथवा जहाँ सद्-वृत्तियों से प्रेरणा पाकर मनुष्य ने सद्भावना-पूर्ण व कल्याणकारी नियम-विधान या व्यवस्थाएँ बनाई हैं, वहाँ दुःस्वार्थों व कुप्रवृत्तियों के

वश होकर उसने ऐसी व्यवस्थाओं को भी जन्म दिया है, ऐसे नियम व क़ानून भी निर्मित किए हैं, जहाँ जड़ में ही घुन है, जहाँ मूल में ही बद-नियती है, जहाँ जन्म में ही पाप है। आज की एक बुरी व्यवस्था पहिले या अपने जन्मकाल में अच्छी ही रही हो, यह अनिवार्य नहीं है। ऐसा कम नहीं होता है कि क़ानून या नियम-विधान मानव-समाज का एक समर्थ, बलवान या चतुर अल्पांश बनाए और दूसरों के लिए या सामूहिक रूप से मानव-समुदाय के लिए क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, उसका निर्णय भी वही गुट्ट करे। निश्चय ही ऐसी स्थिति में जो भी क़ायदे-क़ानून गढ़े जायँगे, वे प्रायः दुःस्वार्थपूर्ण व अनीति-युक्त होंगे, और भले ही उनसे अनेक परिस्थितियों के कारण कुछ-हित-साधन हो जाय, सामूहिक या दीर्घकालीन दृष्टि से वे अहितकारी ही होंगे, थोड़े से ही व्यक्तियों को वे लाभ, मर्यादातीत लाभ, पहुँचा सकेंगे।

[३] व्यक्त या अव्यक्त रूप से, एक तरह का वैनयिक मिथ्यात्व आ जाता है, झूठी खुशामद या आत्म-वंचना की कुटेव-सी पड़ जाती है, और परिणामतः 'समभावी' तथा-कथित 'नीति' की वेदी पर सचाई और ईमानदारी को कुर्बान कर देता है। उसे यह ध्यान रखने का तो एक रोग-सा ही हो जाता है कि उसके किसी विचार से, या उसकी किसी आलोचना से, किसी को ठेस न लग जाए। इस अति-सतर्कतता के कारण फिर स्वभावतः उसमें कुछ ऐसी वृत्ति आ जाती है कि वह किसी भी व्यवस्था की अच्छाइयों को तो खूब बढ़ा-चढ़ा कर कहता है, किन्तु उसकी त्रुटियों, ग़लतियों, अपराधों व पापों की ओर से आँख मींच लेता है, मानों उसमें कोई बुराई या ख़राबी ही नहीं है, या उससे कोई अहित ही नहीं हुआ है। इस वृत्ति के परिणाम-स्वरूप बुराइयाँ अक्षुण्ण रह जाती हैं, बल्कि जिन बुराइयों के और दुष्परिणाम कुछ भी हों, पर वे दूसरी

व्यवस्थाओं से सीधी टक्कर न लें, उन्हें तो आश्रय व संरक्षण ही मिल जाता है। अंदरूनी सुधार या विकास की ओर से इस बेरुखी के कारण धीरे-धीरे प्रतिक्रियावादी भावना घर करने लगती है और क्रान्तिवाद सब की महिमा गाने, सब की हाँ में हाँ मिलाने, सब के आगे झुकने अथवा सब में 'समन्वय' करने की झूठी व निकम्मी दुहाई देने में ही सिमट कर रह जाता है।

[४] अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के सम्बन्ध में 'समभावी' एक निराश थके हुए बीमार की सी मनोवृत्ति बना लेता है। कितने ही मौलिक व सारगर्भित प्रश्न उसके लिए बिल्कुल नगण्य, अनावश्यक व निःसार हो जाते हैं और उसकी विचार-शक्ति के क्षेत्र से तो उनका बहिष्कार ही हो जाता है। एक तरह के एकांगी व 'मुझे मत छुओ' (Touch me not) रुख़ से धीरे-धीरे उसमें भीरुता आने लगती है, और जैसे कबूतर बिल्ली को आता देखकर आँख मींच लेता है और यह समझता है कि बिल्ली है ही नहीं, इसी तरह अनेक जटिल समस्याओं की ओर से भी वह आँख मींच कर ऐसा ही ख़याल करता है कि मानव-जीवन या मानव-समाज के सामने वे जटिल प्रश्न हैं ही नहीं, और यदि वे प्रश्न हैं भी तो वे जटिल नहीं हैं, गौण हैं, हेय हैं। ऐसा व्यक्ति उन समस्याओं को हल करने में अपनी देन दे ही क्या सकता है? इस तरह बौद्धिक उत्तरदायित्व का भान वहाँ कम हो जाता है। उसका समभाव अपने विचारों की अनिश्चितता को और उन्हें निश्चित बनाने की अनिच्छा को प्रोत्साहन देने लगता है। जिस तरह किसी अजायबघर में जाकर तरह-तरह के पशु-पक्षी देख कर कुछ लोग खुश होते हैं और उससे उनका मनोरंजन होता है, इसी तरह नए-नए या भिन्न विचारों या मतों को बड़ी उत्सुकता से जानने या पढ़ने-सुनने से वह अपना मनोरंजन करने लगता है, पर सत्य के प्रति उसमें उदासीनता आ

जाती है, और एक तरह की दिमागी ऐय्याशी के व्यसन में वह पड़ जाता है।

इस तरह और भी अनेक दुष्परिणाम समन्वय के अंध उन्माद से होते हैं और हम कह सकते हैं कि जहाँ समन्वयात्मक वृत्ति मांगलिक व शुभ है, वहाँ उसका उन्माद उतना ही अनिष्टकारी भी है। अतः यह बहुत ही आवश्यक है कि समन्वय विवेकपूर्ण हो, सत्य पर वह निर्धारित हो, और यह तभी संभव है जब उसका आधारभूत समभाव विशुद्ध हो, अपनी मर्यादा में हो, यथार्थवादी हो। किसी व्यक्ति, संगठन या व्यवस्था को उसके योग्य पद से नीचा या ऊँचा पद मिले ताकि दूसरों की बराबरी में उसे बिठाया जा सके, तब निश्चय ही वहाँ समभाव नहीं, विषम-भाव है। वास्तविक समभाव प्रखर सत्य का अविरोधी है और यथायोग्यवाद से उसका पूरा तादात्म्य है।

प्रश्न—संसार में सत्य और असत्य का मिश्रण होता आया है। कोई भी व्यवस्था ऐसी नहीं है जिसमें सत्य और असत्य दोनों न्यूनाधिक मात्रा में न हों। जिस तरह ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसमें गुण-अवगुण दोनों न हों. उसी तरह ऐसी कोई मान्यता नहीं है जिसके, सफेद और काले, दो बाजू न हों। इस अपेक्षा से किन्हीं दो व्यवस्थाओं का समन्वय उनके गुणों या सत्यांशों का ही समन्वय है और वह उचित ही है। वहाँ सत्यासत्य के सामंजस्य अथवा देवा-सुर के समझौते जैसी कोई बात क्यों मानी जानी चाहिए?

उत्तर—यह ठीक है कि ऐसी एक भी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें सत्य ही सत्य हो, या असत्य मात्र ही हो, अथवा जिसकी एक ही बाजू, सफेद या काली, हो। पर फिर भी यह

मानना होगा कि कोई भी व्यवस्था सत्य-प्रधान है या असत्य-प्रधान है। सत्य-प्रधान व्यवस्था में असत्य है, पर गौण है। असत्य-प्रधान व्यवस्था में सत्य है, पर गौण है। जब हम वहके हुए समभावी या समन्वयवादी पर सत्यासत्य के 'समन्वय' का आरोप लगाते हैं, तब हमारा अभिप्राय सत्य-प्रधान और असत्य-प्रधान व्यवस्थाओं के पारस्परिक 'समन्वय' से ही है। निश्चय ही ऐसे 'समन्वय' में सत्य-प्रधान व्यवस्था के 'सामूहिक सत्य' से असत्य-प्रधान व्यवस्था के 'सामूहिक असत्य' का मेल होता है, और यह बड़ा ही अनमेल मेल है। वास्तव में समन्वय वही ठीक है जो दो सत्य-प्रधान व्यवस्थाओं के बीच किया जाए। इस तरह के समन्वय से दोनों व्यवस्थाओं के सत्य या सत्यांश अक्षुण्ण रहेंगे और एक के सत्य द्वारा दूसरे के असत्य को हटाकर उसकी जगह लेने से दोनों के असत्य भी मिटेंगे या कम होंगे। किसी भी हालत में सत्य-प्रधान और असत्य-प्रधान व्यवस्थाओं का सामंजस्य उचित नहीं है क्योंकि इससे सत्य का पतन होगा, असत्य का उच्छेदन न हो सकेगा और इस प्रकार उससे सामूहिक रूप से सत्य व कल्याण की साधना भ्रष्ट ही होगी।

प्रश्न—आपने समभाव का विवेचन करते हुए नर-नारी-समभाव की ओर भी संकेत किया है। इससे आपका वास्तविक अभिप्राय क्या है? यौनभेद को दृष्टिगत रखते हुए अपने इस सम-भाव का विशदीकरण कीजिए।

उत्तर—हमारा अभिप्राय यही था कि दृष्टि यौन-समभावी हो। नर और नारी की समानता प्रकृति के एक अटल नियम तथा मानव-जीवन के एक विराट व शाश्वत सत्य के रूप में सम्मान्य हो। नर-नारी दोनों विकलांग हैं और दोनों के संयोग में ही पूर्ण मानव-व्यक्तित्व की निष्पत्ति है। नारी ही नर की अर्द्धांङ्गिनी नहीं है, नर

भी नारी का अर्द्धांङ्ग है, नर स्वामी है तो नारी स्वामिनी है और नारी दासी है तो नर दास है, यह सद्-सद्-विवेकमय सरल सत्य, यह समभावमयी विशुद्ध भाव, श्रद्धेय हो। यौन-भेद-जन्य शरीर-रचना की विभिन्नताओं को अपेक्षित रखते हुए भी तथा इन विभिन्नताओं द्वारा उत्पन्न नैसर्गिक व स्वाभाविक वृत्तियों-प्रवृत्तियों की विषमताओं को उचित व्यावहारिक मूल्य व मान देते हुए भी यहाँ अनेकता में निहित एकता दृष्टि से ओझल न हो, यहाँ विभिन्नताओं के बीच भी समता का दिव्य दर्शन हो, और यह प्रखर सत्य कभी भी उपेक्षित न हो कि कृत्रिम और प्राकृतिक, अथवा पारिस्थितिक व मौलिक, भेदभावों के बावजूद नर और नारी दोनों मानवांग हैं, एक ही सिक्क के दो बाजू हैं, बराबर हैं।

नर और नारी दोनों ही मनुष्य हैं और दोनों में परस्पर निकटतम नैसर्गिक व प्राकृतिक सम्बन्ध है। एक तरह से दोनों मनुष्य के आधे-आधे अंग हैं। नर-नारी के अभाव की पूर्ति करता है और नारी नर की कमी पूरी करती है। पूर्ण मनुष्य का जन्म नर-नारी के संयोग व एकात्मकार में ही है। शिव जी के विषय में हिन्दुओं की जो यह मान्यता है कि उनका आधा शरीर नर-रूप है, और आधा शरीर नारी-रूप है, वस्तु-स्थिति की दृष्टि से असत्य या काल्पनिक मात्र होते हुए भी यह अनादि-अनन्त या चिरन्तन सत्य उससे बहुत ही सुन्दरता के साथ प्रतिभासित होता है कि नर और नारी दोनों मनुष्य के अंर्द्धाङ्ग हैं और दोनों का संयोग ही पूर्ण मनुष्य की प्रतिष्ठा या स्थापना है। अनेक देव-देवियों की कल्पना तथा सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण व राधा-कृष्ण आदि की युगल-रूप में प्रतिष्ठा भी यही दृष्टिकोण प्रकट करती है। वैज्ञानिकों की यह धारणा कि आदि काल में या सृष्टि के आरम्भ में एक ही व्यक्ति नर और

नारी दोनों होता था, अथवा एक ही मनुष्य के शरीर में पुरुषत्व और स्त्रीत्व के सब गुण होते थे, और वे परस्पर एक दूसरे के पूरक भी होते थे, सत्य हो या न हो, पर उससे भी यही भाव प्रकट होता है। नर और नारी के विभिन्न शारीरिक अंगों व अवयवों के सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण व अध्ययन से आज का शरीर-विज्ञान जो ऐसी मान्यता रखता है कि वस्तुतः नर और नारी के शरीर पूर्णतः समान हैं, कोई भी मूल अंतर या विषमता वहाँ नहीं है, बस इतना ही बाहरी अंतर है कि नर के कुछ विशेष अंग और नारी के कुछ दूसरे विशेष अंग उन्नत व विकसित हुए हैं, वह भी इसी सत्य का प्रतिपादन करती है कि नर और नारी मनुष्य के दो रूप हैं जिनमें परस्पर कोई विशेष या मौलिक अन्तर नहीं है। ऐसी भी कुछ घटनाएँ हाल ही में हुई हैं और जिन पर अविश्वास करने के लिए कदाग्रह के अतिरिक्त कोई कारण नहीं है कि एक स्त्री धीरे-धीरे परिवर्तित होकर पुरुष बन गई है। यूरोप में एक स्त्री ने पुरुष बनने के पश्चात् अपने पति से तलाक़ लिया, फिर एक स्त्री से विवाह किया, उससे कई बच्चे भी हुए, यह प्रमाणिक घटना तो हाल ही की है। इस तरह की और भी घटनाएँ हुई हैं और कभी-कभी समाचार-पत्र ऐसी घटनाओं की रिपोर्ट देते ही रहते हैं। ये घटनाएँ भी यही सिद्ध करती हैं कि नर और नारी मूलतः अभिन्न हैं। हां, यौन-भेद व यौन-भेद-जन्य शरीर-रचना-भेद की दृष्टि से विभिन्नताएँ हैं ही, और तभी तो एक मनुष्य नर है और दूसरा मनुष्य नर नहीं, नारी है।

कुछ विशेषज्ञों का मत है कि नर और नारी की शरीर-रचना में जो विभिन्नता है, उसके कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी दोनों के विकास में अन्तर पड़ा है। इस मत के अनुसार समाज-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, आदि अन्य बाह्य परिस्थितियों को नर

और नारी के मनोवैज्ञानिक या मानसिक विकास के अन्तर का श्रेय उतना नहीं है जितना शरीर-रचना-भेद-जन्य सम्पूर्ण स्वभाव व प्रकृति के मूलभूत भेद को है। इसका अर्थ यह है कि समान वातावरण में भी, अथवा ऐसी स्थिति में भी, जिसमें नर और नारी को अपने-अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान सुविधाएँ हों, दोनों के व्यक्तित्व का निर्माण एक-सा होना असम्भव है। यहाँ नर और नारी के व्यक्तित्व में पाए जाने वाले अन्तरों को मौलिक, जन्म-गत तथा उनकी शरीर-रचना विशेष से सम्बन्धित या अपेक्षित माना गया है, कृत्रिम या वाह्य-परिस्थिति-जन्य नहीं। इस विषय में काफ़ी खोज भी की गई है। देखा गया है कि बचपन से ही लड़के ज़्यादह फुर्तीले, उग्र, तोड़-फोड़ करने वाले, गन्दे, अवज्ञाकारी व उद्दण्ड होते हैं, जब कि लड़कियां प्रायः शान्त, कम उग्र, कम तोड़-फोड़ करने वाली, अधिक स्वच्छ, आज्ञाकारिणी, तथा कम उद्दण्ड होती हैं। यह भी देखा गया है कि पुरुष अधिक उद्यमी, जोशीले, प्रगतिवादी, शक्तिशाली, स्वातन्त्र्य-प्रिय व साहसी-व्यवसायी होते हैं, जबकि स्त्रियों में स्थिरता, सरलता, रूढ़ि-प्रियता, सहानुभूति, कोमलता, धैर्य तथा शान्ति की क्षमता अधिक होती है। स्त्री में स्मरण-शक्ति की तथा पुरुष में विचार-शक्ति की अधिकता भी निरीक्षण का विषय बनी है। इस तरह भिन्न-भिन्न विशेषज्ञ अपनी खोज से अलग-अलग परिणामों पर पहुँचे हैं। यूं सूक्ष्म विश्लेषण करें तो उनके परिणामों में परस्पर विरोध या वैषम्य भी दिखाई देगा, और ऐसी हालत में मूल-अमूल का, कृत्रिम-अकृत्रिम का, अथवा अंतरंग-वाह्य का अलग-अलग रूपों में देखना कठिन ही नहीं, असम्भव है। साथ ही जिन गुण-भेदों के सम्बन्ध में मतैक्य है, उनमें भी ऐसी सीमा निर्धारित करना दुःसाध्य है जिसके एक ओर स्वभाव हो और दूसरी ओर विभाव हो, अथवा जो प्राकृतिक व कृत्रिम के ठीक मध्य में हो। यही कारण है कि इस मत के विरुद्ध कुछ विद्वानों का ऐसा मत भी है कि नर-नारी में

शरीर-रचना की दृष्टि से अंतर होते हुए भी गुणों की दृष्टि से कोई मौलिक अन्तर नहीं है, जो कुछ अन्तर दिखाई देता है उसका कारण हज़ारों वर्षों से चले आए संस्कारों तथा परिस्थितियों की वह विषमता है जिसके कारण नर और नारी को विकास के लिए समान रूप से सुविधाएँ नहीं मिल पाती हैं। आज के युग के विद्वान प्रायः इस दूसरे मत को ही शिरोधार्य करते हैं। अनेक विशेषज्ञ मानव-प्रकृति का गम्भीर अध्ययन कर इस परिणाम पर आए हैं कि वास्तव में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नर और नारी मूलतः एक हैं, विकास-विभिन्नता प्राकृतिक नहीं, पारिस्थितिक है। बहुत सम्भव है कि नर और नारी की समानता या नारी के उत्कर्ष की उत्कट भावना, जो वर्तमान युग की एक मुख्य विशेषता है, व्यक्त या अव्यक्त रूप से इस अनुसंधान की तह में अपना काम कर रही हो, पर यह निश्चित है कि यदि पहिले मत के स्थान की इसने पूर्ति नहीं की है तो उस मत की अपूर्णता को उसने अवश्य पूरा किया है। दोनों ही विचार-धाराओं के लिए एक बुद्धिगम्य आधार सुलभ है, जहाँ ये दोनों ही सिद्धान्त बहुत पास-पास ही नहीं दिखाई देंगे, बल्कि मिलकर सत्य का दिग्दर्शन कराते हुए दिखेंगे। सच यह है कि शरीर-रचना व बाह्य परिस्थिति, दोनों का सामूहिक रूप से स्त्री और पुरुष के गुण व स्वभाव पर यह प्रभाव पड़ता है कि मनुष्य के रूप में दोनों में जो समान मानवीय गुण लब्धि रूप से विद्यमान हैं, उपयोग रूप से उनमें से कुछ का अपेक्षा-कृत अधिक विकास नारी में हो पाता है, और कुछ का नर में. और इस तरह सभी गुण दोनों में हैं और सदा रहते हैं. पर उनमें से कुछ में तरतमता आ जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मानसिक दृष्टि से नर-नारी का यौन-जीवन समान है पर एक-रूप नहीं है। फिर, नर-नारी की परिस्थितियाँ

समान हों, यह भी सम्भव नहीं है। पुरुष पिता है और स्त्री माता है, यह भेद परिस्थितियों में परिवर्तन लायगा ही, और काफ़ी दूर तक। जो परिस्थितियाँ कृत्रिम हैं या जिनका आधार प्रकृति नहीं है, उनमें समानता लाई जा सकती है, पर प्रकृति-जन्य भेदों के आधार पर परिस्थितियों में अनिवार्य रूप से भेद होगा ही। इस तरह शरीर-रचना का भेद परिस्थितियों में भेद लाता है और फिर इन परिस्थितियों की विषमता से नर-नारी के विकास में अन्तर पड़ता है। यहीं उक्त दोनों विचार-धाराओं का संगम है।

निश्चय ही पिता की अपेक्षा माता का संतान से कहीं ज्यादह घनिष्ठ सम्बन्ध है। माँ की ममता कितनी गम्भीर नैसर्गिक वृत्ति है? माँ संतान के लिए क्या नहीं करती, क्या नहीं कर सकती? संतान के प्रति माँ का यह आत्मौपम्य-भाव नारी-स्वभाव की एक प्रधान विशेषता है। इसी स्थल पर वात्सल्य, संयम, सेवा, त्याग, सहिष्णुता, प्रेम और कोमलता का उद्गम है। यहीं उसके मानव-निर्माण का महान कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व भी निहित है। पर यहीं उसके दौर्बल्य का भी रहस्य छिपा है। मानव-निर्माण के इस महान रचनात्मक कार्य ने नारी में एक तरह की स्थिरता पैदा की। सन्तानोत्पत्ति व संतान के पालन-पोषण के लिए नारी को घर बसाना पड़ा। उसने नर का सहयोग चाहा, क्योंकि वह अनिवार्य था, और इसके लिए लापरवाह अस्थिर उच्छृङ्खल नर को आकर्षित रखना उसके लिए ज़रूरी हो गया। अतः उसे लुभाए रखने के लिए उसने शृङ्गार किया तथा अपने सौन्दर्य की ओर विशेष ध्यान दिया और इस तरह की परिस्थिति से उसका कार्य-क्षेत्र प्रायः घर में सीमित हो गया। इस विचार-क्रम से हम स्थूल रूप से कुछ आभास पा सकते हैं कि नर-नारी में पाए जाने वाले गुण-अवगुण में प्रकृति का कितना हाथ है? सचमुच ऐतिहासिक अध्ययन की इस पद्धति से यह रहस्य

बहुत कुछ स्पष्ट हो सकता है। पर साथ ही तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। उदाहरणार्थ, हिंदू समाज की बहु-पत्नी-विवाह की प्रथा को लीजिए। यह प्रथा कार्य-रूप में पहिले बहुत प्रचलित थी और अभी भी इसका चलन है। इसने हिन्दू नारी में सौतिया डाह या सहपत्नी-ईर्ष्या की भावना को जन्म दिया और बढ़ाया है। यह अवगुण नारी का स्वाभाविक गुण नहीं है, यह समझने के लिए उस व्यवस्था से इसकी तुलना करना उपयोगी होगा जिसके अन्तर्गत बहु-पति-विवाह की प्रथा प्रचलित है। तिब्बत व भारत के कुछ उत्तरी पहाड़ी प्रदेशों में एक नारी के अनेक पति अभी भी होते हैं। वहाँ जिस परिवार में अनेक पति परस्पर भाई नहीं हैं, वहाँ सहपतियों में परस्पर काफी डाह पाया जाता है और सहपति भाइयों में भी एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या का अभाव नहीं है। हिंदू घराने की सौतेली माँ की तुलना में मुसलमानों, ईसाइयों, गोंडों, भीलों आदि के सौतेले बापों को देखा जा सकता है। इस तरह के तुलनात्मक अध्ययन से भी वस्तु-स्थिति जानने में सुविधा होती है। सचमुच ऐतिहासिक-तुलनात्मक अध्ययन की संयुक्त प्रक्रिया से ठीक-ठीक जाना जा सकता है कि नर और नारी के गुणों में मौलिक अंतर क्या है, तथा आज जो अंतर दिखाई देता है उसमें कितना भाग मौलिक है, और कितना भाग कृत्रिम है? इस पद्धति को जिन विद्वानों ने उपयुक्त रूप से काम में लिया है, उनका मत है कि आज जो नर और नारी के गुणों व स्वभावों में अंतर दिखाई देता है, वास्तव में उसका बहुत अंश कृत्रिम है, स्वाभाविक अंतर या वैषम्य अपेक्षाकृत बहुत ही कम है।

यहाँ हम सहज ही इस निष्कर्ष पर आते हैं कि नर और नारी मानव के ही दो रूप हैं, जिनमें मौलिक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है पर शरीर-रचना की विभिन्नता या यौन-भेद के कारण जो अनिवार्य

रूप से परिस्थितियों में विभिन्नता आती है या आनी ही चाहिए, उसके फल-स्वरूप दोनों के मनोवैज्ञानिक व मानसिक विकास में अंतर पड़ना अनिवार्य ही है और उसके परिणाम-स्वरूप नारी में कुछ गुणों का विकास नर से ज्यादह और नर में कुछ गुणों का विकास नारी से ज्यादह होता है। इस तरह नर-नारी एक-रूप नहीं है, पर समान हैं, तथा वे एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों मिल कर पूर्ण मनुष्य का निर्माण करते हैं। यही निष्कर्ष हमें देता है नर-नारी-समभाव, जो एक समभावी व्यक्ति में अनिवार्य रूप से होना ही चाहिए। नर-नारी-समभाव के विना समभाव अपूर्ण है और समभावी दृष्टि सदोष है। नर-नारी समभाव सत्य दृष्टि का अंश होना चाहिए। कोई भी दुहाई, कोई भी कल्पना या अनुमान, कोई भी श्रद्धागत या संस्कार-जन्य अंध-विश्वास, कोई भी परम्परा-गत विचार व आचार, कोई भी भावना, वाद या सिद्धान्त, कोई भी आदर्श, कोई भी साक्षीत्व या अनुमोदन, इसमें बाधक न होना चाहिए।

प्रश्न—विवाह-संस्था के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है? क्या नर-नारी-समभाव से विवाह-संस्था की प्रतिष्ठा का अनिवार्य सम्बन्ध है।

उत्तर—ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर और पहाड़ों की चोटियों पर बहने वाली नदी स्वभावतः उच्छृङ्खल और चंचल होती है लेकिन वही नदी जब मैदान में उतर कर समतल-भूमि पर बहती है तब उसकी वह उछलकूद और प्राकृतिक चंचलता न जाने कहां चली जाती है और वहां आ जाती है शान्ति और गंभीरता। यही हाल इस मनुष्य-प्राणी का है। प्राकृतिक मनुष्य (Man in the state of nature)

में स्वाभाविक काम-प्रवृत्ति का उच्छृंखल स्वरूप होता है, सामाजिक मनुष्य (Man in society) में वह नहीं रह पाता, वहाँ वह प्रवृत्ति सीमित-मर्यादित हो जाती है। सभ्यता-युग से पहिले के प्राकृतिक मनुष्य के और आजकल के भी असभ्य और जंगली देशों की मनुष्य जातियों के रहन-सहन से यही पता लगता है कि समाज में आने से पहिले मनुष्य की काम-प्रवृत्ति उच्छृंखल, अमर्यादित और असीमित होती है और ज्यों-ज्यों मनुष्य समाज में प्रवेश करता जाता है और समाज सुव्यवस्थित होता जाता है, वैसे ही यह नैसर्गिक वृत्ति भी गंभीर व मर्यादित होती जाती है। कामवृत्ति नैसर्गिक रूप से बहुत ही प्रबल है। मनुष्य प्राकृतिक हो या सामाजिक, काम-प्रवृत्ति की स्वाभाविक शक्ति कम या नष्ट नहीं की जा सकती। लब्धि रूप से एक सामाजिक मनुष्य की काम-वृत्ति उतनी ही प्रबल होती है जितनी प्राकृतिक मनुष्य की, अंतर है केवल उसके उपयोग में। प्राकृतिक मनुष्य उच्छृंखलता-पूर्वक किसी भी दिशा में उसे काम में लाता है जब कि सामाजिक मनुष्य शान्त सौम्य और नियमित ढंग से, दूसरों के संघर्ष में आए बिना, एक ही दिशा में, उसका उपयोग करता है। इस तरह स्पष्ट है कि सामाजिक सुव्यवस्था के लिए काम-वृत्ति को सीमित और मर्यादित बनाने का कार्य-भार विवाह-संस्था पर है जिसकी स्थापना भोग-विलास और ऐयाशी में डूबे हुए निकम्मे लोगों ने नहीं की थी, बल्कि दुनिया के ऐशोआराम को छोड़ने वाले सन्तों व महात्माओं ने की थी। काम-वृत्ति को दबा देना या मिटा देना इनके वश में होता तो वे ऐसा करते लेकिन इस उद्दाम वृत्ति की प्रबल प्रचण्ड शक्ति को उन्हें स्वीकार करना पड़ा, प्रकृति के आगे मस्तक झुकाना ही पड़ा और इसलिए उन्होंने विवाह-संस्था की स्थापना की, यही नहीं, उसे धार्मिक रूप भी दिया। पर ठीक जिस तरह धर्म-संस्था को स्वार्थ व अहंभाव ने विकृत व भ्रष्ट किया, वही दुर्व्यवहार विवाह-संस्था के साथ किया गया। विवाह-संस्था का उद्देश्य था

नर-नारी की समान उच्छृंखलता दूर करके समान नियंत्रण व गांभीर्य लाने का, न कि समानता नष्ट करके असमानता लाने का। पर हुआ यही। विवाह-संस्था को विकृत व गंदा बना दिया गया, उसमें विषमता कूट-कूट कर भरदी गई। यही कारण है कि आज वह अपने ही उद्देश्य पर कुल्हाड़ी मारती देखी जाती है। अब उसे स्त्रियों को गुलाम बनाए रखने, अपनी काम-पिपासा शान्त करने प्रत्येक अवस्था और स्थिति में सैकड़ों उपाय ढूंढ कर भी हजारों-लाखों विधवाओं को अरमानों व कामावेग के झंझावात की भट्टी में बलात् सुलगते रहने और जले पर सतीत्व का थोड़ा-सा नमक छिड़क देने, कुमारियों को वृद्ध-विवाह आदि कुरीतियों के द्वारा विधवाएँ बनाने और विधवाओं को वेश्याएँ बनने के लिए विवश कर देने और ऐसे ही बहुत से कारनामे दिखाने के काम में लाया जा रहा है। जो संस्था सामाजिक सुव्यवस्था के लिए स्थापित की गई है, आज वही संस्था समाज-व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर रही है। जो संस्था काम-प्रवृत्ति को दबाने या नष्ट करने के लिए नहीं आई थी, उससे वही काम लेने का प्रयास किया जा रहा है। विधवा-विवाह का निषेध ऐसा ही एक प्रयास है। लेकिन काम-वृत्ति का दमन या उन्मूलन असम्भव है, उसका प्रवाह तो होगा ही। हाँ, वह गंभीर व नियंत्रित न होगा तो फिर उच्छृंखल रूप में होगा। समाज में रहने वाले सामाजिक प्राणी के उच्छृंखल प्रवाह का ही दूसरा नाम व्यभिचार है। आज विवाह-संस्था की विकृति व्यभिचार बढ़ा रही है।

प्रश्न—विवाह-संस्था की विकृतियों को देखते हुए यदि इस संस्था को ही नष्ट कर दिया जाय तो क्या हर्ज है? आखिर, विवाह एक बंधन ही तो है।

उत्तर—विवाह-संस्था के विकारों को देखकर उसे नष्ट कर देने की बात ऐसी ही बेढंगी है जैसी धर्म या नीति के नाम पर होने वाली लड़ाइयों व खून-खराबियों को देख कर धर्म को ही नेस्तोनाबूद कर देने की बात। विवाह-संस्था में जो दोष आ गए हैं, उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए, और इसके लिए सुधार या क्रान्ति का सहारा लेना चाहिए। जो लोग विवाह-संस्था को मिटाने की बात कहते हैं, उनके दिल की आवाज़ सुनिए तो पता लगेगा कि वे विवाह का आनन्द तो चाहते हैं पर उसका बोझ नहीं उठाना चाहते, वे अधिकार और सुविधाएँ चाहते हैं पर कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से बचते हैं। यह नैतिक पतन है। 'बंधन' शब्द का तिरस्कार करके विवाह-संस्था की भर्त्सना करना किसी भी प्रकार शोभनीय नहीं है। हम कहते हैं—यह समाज भी तो बंधन है, चले जाइए ऐसी जगह जहाँ कोई न हो, वहाँ आप पूर्ण स्वतन्त्र होंगे, आप होंगे और आपका ही अकेलापन होगा, न कोई बंधन होगा, न दायित्व या भार होगा। आप बंधन नहीं चाहते? चोटी से तलुए तक आप बंधनों में बंधे हुए हैं, सुबह से शाम तक आपकी जितनी भी क्रियाएँ हैं सभी पर कोई न कोई बंधन है। आप नंगे होकर क्यों नहीं नाचते? तोड़िए न वेष-भूषा, फ़ैशन और दिखावटी लज्जा के इस बंधन को। हर बात को बंधन कह कर उसका मखौल उड़ाना ठीक नहीं है। सच तो यह है कि विवाह-संस्था सामाजिक मनुष्य की उचित स्वतन्त्रता का विधान है। दाम्पत्य जीवन का यह बंधन ऐसा बंधन है कि उस पर सैकड़ों स्वतन्त्रताएँ न्योछावर की जा सकती हैं। ज़रूरत सिर्फ़ इतनी है कि विवाह-संस्था नर-नारी-समभाव के सुदृढ़ आधार पर निर्धारित हो। समभावी की दृष्टि से विवाह-संस्था पर नज़र डाली जायगी तब जितने भी विकार हैं, उनके लिए वहां कोई स्थान न रह जायगा। तब बहु-विवाह व अनमेल-विवाह को असमान्य करना होगा, विधुर-विवाह के समान ही विधवा-विवाह को ग्रहण करना होगा, तथा अन्य

सभी प्रथाओं व व्यवस्थाओं के प्रति समभावमयी स्वस्थ दृष्टिकोण अपना कर विवाह-संस्था के क्षेत्र में व्यापक सुधार या क्रान्ति लाना होगा।

इस तरह हम समभाव का यथार्थ स्वरूप देखते हैं और इस निर्णय पर आते हैं कि सत्य दृष्टि के लिए समभावी होना अनिवार्य है। सचमुच समभाव सत्य का वाहन है, सम्यक्त्व को देखने वाली आँखो की पुतली है। समभाव के बिना सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नितान्त असम्भव है। पर इस समभाव का व्यापक अर्थ है प्राणी मात्र के प्रति सहज आत्मीयता व सम-सहृदयता की भावना, विश्वप्रेम व विश्व-कुटुम्ब भाव, दुःस्वार्थ-त्याग, विशुद्ध न्याय-भाव, निज-सुख-दुख का पर-सुख-दुख से बेतार के तार जैसा सम्बन्ध व तादात्म्य, अप्राकृतिक व अमानवीय विषमताओं के प्रति अरुचि व अश्रद्धा, राग-द्वेष का अभाव, अनन्त कल्याण-भावना, अहंकार का परित्याग, गुण-ग्रहण-वृत्ति, न कि यह कि जब भी दो मत सिद्धांत या व्यवस्थाएँ सामने आएँ, बस लगे आँख मींच कर उनकी खिचड़ी पकाने, ठोक-पीट कर उन्हेंएक दूसरे में फिट करने, फिर भले ही गुड़-गोबर को एक करना पड़ जाय या गधे-घोड़े को एक ही डंडे से हाँकना पड़ जाय। यहाँ हरगिज़ समभाव नहीं है। दो व्यक्तियों के प्रति समभाव रखने और दोनों को समान मानने में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। किन्हीं दो विचारों या मतों को एक ही श्रेणी में बिठाने का और उन्हें एक दूसरे के साथ गूँथने का नाम समभाव है तो वह अनिवार्य रूप से सत्य नहीं है और इस अपेक्षा से हर एक सम्यग्दृष्टि समभावी होते हुए भी हर एक समभावी सम्यग्दृष्टि नहीं है। पर सच यह है कि समभाव इस तरह का बलात् समन्वय नहीं है। वह समता की दृष्टि है समता, की भावना है, और निश्चय ही इस अपेक्षा से समभाव

विराट है, महान है, और साथ ही वह सम्यग्दर्शन का अंग है, बल्कि वह स्वयं सत्य है, एक सजीव सत्य है।

चौथा लक्षण—

बुद्धिवाद—दृष्टि बुद्धिवादी हो, पारखी हो। स्वावलम्बन की आत्मानुभूति उसका सम्बल हो। खुले मैदान में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते हुए, निर्भय और निर्बाध रहते हुए, पर साथ ही अहंकार, संस्कारों की दासता, मोह व उच्छृंखलता की दल-दल से बचते हुए, वह सत्यान्वेषण और गुण-ग्रहण करे। सुयोग्य व्यक्ति व शास्त्र का साक्षीत्व यथोचित रूप से सम्माननीय व विचारणीय हो, पर निर्णायक या न्यायाधीश के पद पर और कोई नहीं, अपना ही आत्म-विवेक हो और इसके लिए आवश्यक है कि बुद्धि जाग्रत हो, तथा किसी भी तरह शब्द-प्रमाणवाद की संकीर्णताओं में घिर कर उसके जागरूक प्राण सुप्त व कुंठित न हों।

प्रश्न—शब्द-प्रमाणवाद से क्या अभिप्रेत है?

उत्तर—यह वेद-वाक्य है, यह पुराण, गीता, उपनिषद् या स्मृति में लिखा है, यह कुरान की आयत है, यह बाइबिल या अंजील का उपदेश है, यह सूत्र या त्रिपटक का कथन है, यह ग्रन्थ-साहब का वचन है, ईसा या मुहम्मद ने ऐसा कहा है, कबीर, तुलसीदास, दयानन्द या शंकराचार्य ऐसा कह गए हैं, अथवा अमुक आचार्य गुरु या विद्वान का ऐसा मन्तव्य है, इसलिए यह प्रमाण है, ऐसी भी मानसिक दासता को यहाँ 'शब्द-प्रमाणवाद' की संज्ञा दी गई है।

प्रश्न—किसी विशेष मार्ग-दर्शक या महानायक का अनुकरण करना अथवा शास्त्र-विशेष को अपना श्रद्धा-भाव समर्पित करना ही उपादेय है, जब कि सहज साधारण मानव-बुद्धि इतनी विश्वसनीय नहीं है कि उसके भरोसे पर ही रह कर संतोष किया जा सके। अपनी मनमानी करने से बहकने, ठोकरें खाने और अपने मानस-जगत में एक तरह की अराजकता या अव्यवस्था लाकर अपना अहित ही करने की आशंका है। फिर, शब्द-प्रमाणवाद की विचार-सरणि में जो निश्चितता व स्थिरता के बीज हैं, उनका कम मूल्य नहीं है।

उत्तर—पहिले तो यहां यही प्रश्न खड़ा होता है कि तर्क न करने या बुद्धि से काम न लेने की स्थिति में यह कैसे निर्णीत हो कि किस व्यक्ति या शास्त्र के कथनानुसार चला जाय? मार्गदर्शक जननायक महात्मा और महाशास्त्र अनेक हैं और उनके बीच विविधता, विषमता व पारस्परिक विरोध की कमी नहीं है। किसे मान्य किया जाय और क्यों? किसे अमान्य ठहराया जाय और क्यों? आखिर, तर्क या बुद्धि संगत विचार ही इस प्रश्न को हल करने में जुटेगा। फिर, किसी एक व्यक्ति या शास्त्र के शब्दों को ननुनच किए बिना शिरोधार्य करने वालों तक में अर्थ या तात्पर्य को लेकर मतभेद खड़ा होता ही है और वहां भी अंततः यहीं आकर विश्राम मिल पाता है कि बुद्धि ही यह निर्णय करे कि कौन-सा अर्थ ठीक है, या वास्तविक अभिप्राय क्या है? वेद के विविध भाष्यों को लेकर कितना घुटाला चल रहा है? सायणाचार्य जो अर्थ करते हैं, स्वामी दयानन्द उससे भिन्न अर्थ करते हैं, यही बात अन्य शास्त्रों को लेकर है। इस झंझट को मिटाने के लिए बुद्धि व तर्क की शरण में ही जाना होगा। इस तरह विचार-प्रवाह की सहज दिशा बुद्धिवाद की ओर है, यहाँ तक कि श्रद्धा की प्रामाणिकता भी विचारानुमोदित

या बुद्धि-गम्य कहलाने या तर्क सम्मत बनने में ही है। एक बात और है। तर्क या बुद्धिवाद की भर्त्सना आत्म-विश्वास का निषेधीकरण है। यदि हम अपनी आँख पर विश्वास करना छोड़ दें तब एक डग भी आगे नहीं चल सकते। जिस प्रकार आँख, नाक, कान आदि बाह्य इन्द्रियों पर विश्वास न करने से बाहर के काम नहीं चल सकते, वैसे ही यदि हम अंतरंग इन्द्रियों पर, अपने मन और मस्तिष्क पर, विश्वास न करें तो हमारा भीतर का काम, हमारे दिल और दिमाग़ की दुनिया का काम नहीं चल सकता, हम विचार नहीं कर सकते, हम निर्णय नहीं कर सकते, गुण-ग्रहण नहीं कर सकते, हमें सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, ग़रज़ यह कि हम कुछ भी नहीं कर सकते। हम अज्ञानी हैं, अल्पज्ञ हैं, हमारी बुद्धि सत्यासत्य का निर्णय करने में असमर्थ है, कहाँ हम और कहाँ ऋषि-महर्षि, इस तरह सोचकर बुद्धि से काम लेना छोड़ देने से विचार-शक्ति नष्ट होगी, मन-मस्तिष्क का विकास रुकेगा और अपने ऊपर निर्भर रहने की क्षमता न रहेगी, या न आ पाएगी। दूसरों से विश्वास पाने और उनकी बुद्धि से हर समस्या को समझने की या उनके निर्णयों को ही अपने निर्णय बनाने की नीति धारण कर निश्चिंत हो जाने का अभ्यस्त महाप्रमादी भूलता है कि जिस तरह दूसरों के कानों से कुछ नहीं सुना जा सकता, दूसरों की नाक से कुछ नहीं सूँघा जा सकता, उसी तरह दूसरों की बुद्धि से कुछ नहीं समझा जा सकता, और दूसरों के हृदय से कुछ नहीं अनुभव किया जा सकता। दूसरों पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति अपनी बुद्धि व अंतः प्रेरणा के प्रति वफ़ादार नहीं हो सकता। दूसरों की दासता के कारण वह अपने मन-मस्तिष्क की आवाज़ नहीं सुन पाता, सुनता भी है तो मान नहीं पाता। अंधश्रद्धा व स्वमोह की मदिरा पीकर वह भूल जाता है कि उसका सच्चा मार्ग-दर्शक और कोई नहीं, उसका ही विवेक है। वह भूल जाता है अपनी

आत्मा में स्थित प्रकाश को, जो उसका सच्चा मार्ग-दर्शक है। जिस प्रकार बटन दबाते ही बिजली का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित कर हमें उनका बोध करा देता है, उसी प्रकार विवेक का बटन दबाते ही आत्म-स्थित प्रकाश फैल कर हमें शुभाशुभ, उचितानुचित, सत्यासत्य व कर्त्तव्याकर्त्तव्य का यथार्थ ज्ञान करा देता है: यह वह नहीं समझ पाता है। ज़िसके व्यक्तित्व के भीतर का उसे पता नहीं है, जिसके सुख-दुख का उसे अनुभव नहीं है, जिसके गुणावगुण का उसे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है, जिसके मन की भावनाओं व उमंगों का उसे ठीक परिचय नहीं है, उसके कारण वह अपने व्यक्तित्व व स्वत्व को क्यों नष्ट करे, क्यों आत्म-समर्पण करे, क्यों कठपुतली बने, वह यह सोच ही नहीं पाता है। वह अपनापन भूल जाता है। ऐसे भुलक्कड़ की निश्चिंतता प्रमादमयी जड़ता है वह गुण नहीं अवगुण है। अंधकार में बैठा व्यक्ति देखने-भालने की झंझट से अपने को मुक्त समझ कर निश्चिन्त बन सकता है और उजाले में देखने वाले व्यक्ति पर दयाभाव भी रख सकता है, यही नहीं, वह उसे भला-बुरा भी कह सकता है, पर यह उसकी मूढ़ता ही है। जहाँ चेतना है, जाग्रति है, वहाँ चिन्तन है, निरीक्षण है, परीक्षण है, अन्वेषण है, गति है, प्रगति है। वहाँ न वृथा सन्तोष है, न असंतोष है। न वहाँ श्मशान-शांति है, न अशांति है। वहां न आत्म-समर्पण है, न असहयोग या विद्रोह है। न वहाँ स्वत्वहीनता या चाटुकारिता है, न अहंकार-तुष्टि है। न वहाँ जड़तामयी स्थिरता या शिथिलता है और न उच्छृंखलता, अतिचपलता या अनिश्चितता है। निश्चय ही ऐसी मनःस्थिति में अराजकता या अव्यवस्था नहीं है, है भी तो वह स्थायी सुव्यवस्था लाने वाली है। यहाँ ठोकर है तो ऐसी है कि उसे खाकर अक़्ल आए। वज्र मूर्ख बने रहने, कल्पना के बीहड़ वन में ठोकरें खाने, अदृश्यवाद का बोझा लाद कर भटकने, भेड़ों की तरह चरवाहे के

पीछे चलने तथा आंखें रखते हुए भी अंधा बने रहने की दयनीय व करुण स्थिति यहाँ नहीं है।

सच तो यह है कि मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में जितनी भी प्रगति हुई है, उसके मूल में विवेक है, बुद्धिवाद है। ज्ञान-विज्ञान की खोज अंधश्रद्धा ने नहीं, जिज्ञासा ने की है, वृथा संतोष ने नहीं, सात्विक असंतोष ने की है, अपने को सत्य का ठेकेदार समझने के अहंभाव ने नहीं, अल्प ज्ञान की विनम्र अनुभूति ने और तज्जन्य विचारणा व गवेषणा ने, चिन्तन व अन्वेषण ने, की है। असंख्य विद्वान व मनीषी, वैज्ञानिक व अन्वेषक अपनी जीवन-साधना से, अपने अनुसंधानों व आविष्कारों से, अपनी बहुमूल्य कृतियों से, यही संदेश देते हैं कि आँखें बन्द करके पीछे चलने से नहीं, नेत्र व जाग्रत मन-मस्तिष्क से देखने व सोचने-विचारने से ही सत्य की उपलब्धि हो सकती है और इसी में ही जीवन की प्रगति है। महावीर और बुद्ध ने अपने युग की मूढ़ताओं व कुवृत्तियों-प्रवृत्तियों का घोर विरोध किया, हिंसा को ललकारा, धर्म की ठेकेदारी व क्रियाकाण्ड की जड़ता को चुनौती दी, जाति-पांति व वर्णभेद के विरुद्ध सिंहनाद किया, तो यह सब बुद्धि-विवेक, तर्क व विचारकता के बल पर किया या श्रद्धा के बल पर ? वे श्रद्धा के पुजारी होते तो क्या परम्परा को तोड़ कर, चिर-बद्ध मूल धारणाओं पर आक्रमण कर, वे क्रान्ति का झण्डा ऊँचा कर सकते थे ? उन्होंने पुकार-पुकार कर कहा था—"विचारपूर्वक ही सत्य को ग्रहण करो, जो ठीक जँचे, वही आचार-विचार अपनाओ"। अन्य महापुरुषों ने भी यही सीख दी है कि "अंधेरे में ठोकरें न खाओ विवेक के उजियारे में बुद्धि के नेत्रों से देखो और साहस के साथ आगे क़दम बढ़ाओ। इस तरह

परीक्षा-प्रधानता की, विचार-स्वातन्त्र्य की, एक लम्बी परम्परा युग-युग से, प्राचीनतम अतीत से, चली आ रही है जो निरंतर हमें जाग्रत, विचारक व विवेकशील रहने की प्रेरणा देती है और दे रही है।

प्रश्न—तो क्या व्यक्ति या शास्त्र विशेष को मान्य न किया जाय?

उत्तर—नहीं, उन्हें यथोचित मान्यता मिलनी ही चाहिए। बुद्धिवाद के अंतर्गत व्यक्ति या शास्त्र के साक्षीत्व के लिए पूरा-पूरा स्थान है। हाँ उनके व्यवहार या उपयोग में औचित्य की मर्यादा का उल्लंघन अवश्य यहाँ वर्जित है। ये महान् व्यक्ति या शास्त्र न्यायाधीश नहीं, गवाह या प्रतिष्ठित गवाह हैं, और इसी रूप में उनकी गवाही जाँची-परखी जा सकती है। इस तरह यहाँ बुद्धि का आत्म-विश्वासपूर्ण समुचित उपयोग है और उसमें महापुरुषों व महाशास्त्रों के वचन से यथोचित सहायता लेने की पूरी गुंजायश है।

प्रश्न—हमें शास्त्र को शब्दार्थ में नहीं समझना चाहिए, किंतु उसकी आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। शब्दार्थ की बात मानना तो बालकपन है। शब्द प्रमाण है, किंतु वह शब्दार्थ द्वारा नहीं। हमें शब्दार्थ नहीं, शब्दार्थ द्वारा जो सत्य सूचित किया है, उसमें अवगाहन करना चाहिए।

उत्तर—शब्द-प्रमाणवाद के इस बचाव में कोई प्राण नहीं है। आत्मा को ग्रहण करने की बात सुनने में मीठी है, पर अस्पष्ट है। उससे भुलावा ही हो सकता है। शब्दार्थ का सहारा आखिर है ही। तब शब्दार्थ को लेकर मतभेद होने से उसके द्वारा सूचित

सत्य को लेकर मतभेद नहीं होगा क्या? हम कह आए हैं कि शब्दार्थ को लेकर कितना घुटाला चलता है? शास्त्र प्रमाण है, पर शास्त्र कौनसी पुस्तक है? वही पुस्तक न, जो सत्य का प्रतिपादन करती है? पर उस 'सत्य' की कसौटी क्या है? कैसे दावा किया जाय कि वह 'सत्य' सत्य ही है, असत्य नहीं है? अतः किसी भी लिपिबद्ध शास्त्र या पोथी को अथवा किसी भी मन्तव्य को सत्य कहने से पहिले बुद्धि की कसौटी पर कसना होगा? यही बात गुरु को लेकर है। किधर से भी लीजिए, शब्दार्थ न सही, आत्मा को या 'सत्य' को ही पकड़िए, बुद्धि-संगत विचार को 'तर्क व परीक्षण, से गुज़रना ही होगा। इससे छुटकारा नहीं है।

प्रश्न—विचार-पूर्वक किसी व्यक्ति को विश्वसनीय जानकर उसमें या उसके वचनों में पूर्ण विश्वास करना स्वाभाविक है, और उचित भी है। ऐसी श्रद्धा अंधश्रद्धा नहीं है, बल्कि विचारानुमोदित सात्त्विक श्रद्धा है, और शब्द-प्रमाणवाद के मूल में वह हो, तो क्या हानि है?

उत्तर—विचारपूर्वक किसी व्यक्ति को विश्वसनीय मानने का अर्थ यही है कि वह व्यक्ति ईमानदार और नेक है, न कि यह कि वह भूलों से परे है। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। कोई भी व्यक्ति सभी प्रकार की त्रुटियों से पूर्णतया शून्य हो सका है या हो सकता है, यह मानने के लिए कोई ऐतिहासिक व बुद्धिगम्य आधार नहीं है। किसी ने भी पूर्ण में तो क्या, अंश में भी पूर्णता प्राप्त नहीं की है। व्यक्ति का जीवन अधिक से अधिक एक काल्पनिक पूर्ण आदर्श जीवन का छोटा सा अंश ही बन सका है। मनुष्य का शरीर मनुष्य का मन और मनुष्य का मस्तिष्क ही ऐसा है कि वहाँ पूर्णता नहीं मानी जा सकती। आत्मबुद्धि की पूर्णता के आदर्श को शिरोधार्य

करके भी यह मान्य नहीं किया जा सकता कि मन और मस्तिष्क पर, जो शरीर के ही अंग हैं, निर्भर रहते हुए कभी ऐसी स्थिति आ सकेगी जब विकास—मन-मस्तिष्क का अनवरत परिमार्जन—रुक जायगा, जीवन का स्पन्दन व सतत परिवर्तन बन्द हो जायगा। ऐसी स्थिति की कल्पना करना जीवन की नहीं, जड़ता की कल्पना करना है। जहाँ जीवन है, वहाँ विकास है, और जहां विकास या पूर्णता की ओर बढ़ने की गति है, वहाँ अपूर्णता है ही। पर लब्धि रूप से पूर्णता मान भी ली जाय तो भी उपयोग की दृष्टि से उसे हरगिज़ मान्य नहीं किया जा सकता। आखिर, उपयोग सामयिक परिस्थिति व आवश्यकता पर निर्भर है। कोई भी व्यक्ति हर परिस्थिति तथा हर आवश्यकता की अपेक्षा से आचरण कर सके, या सन्देश दे सके, यह सर्वथा असम्भव है। सभी महात्माओं ने मानव-समाज के सन्मुख उच्चतम मानवीय आदर्श रखे हैं। पर उनमें भी कितनी विभिन्नताएँ हैं? इसीलिए कि सभी ने कल्पना-जगत के पूर्ण मानव-व्यक्तित्व के जीवन के अलग-अलग पहलू ही दिखाए हैं और यही वे कर भी सकते थे। इस तरह व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् हो, अपनी विशेष परिस्थितियों में तथा अपनी अल्पायु में सत्य की एक झाँकी ही देख सकता है और दिखा भी सकता है। सत्य अनन्त है, अपार है, चिर-शोध्य है। पूर्ण-परिपूर्ण-सम्पूर्ण सत्य न किसी के पल्ले पड़ा है, न पड़ेगा। अतः व्यक्ति विशेष से कुछ विशेष प्रेरणाएँ ही ली जा सकती हैं। ईसा ने बलिदान का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, बुद्ध और महावीर नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें कम असहिष्णु लोगों में काम करने का अवसर मिला था। जिस तरह बुद्ध और महावीर ने भोग-विलास व ऐश्वर्य पर लात मार कर, गृह-त्याग कर, यह प्रेरणा दी कि पत्नी तथा परिवार से समाज ऊँचा है, मोह से कर्त्तव्य बड़ा है, ईसा परिवार-विहीन होने के कारण इस तरह की

परीक्षा न दे सके। महावीर और बुद्ध से जन-कल्याण के लिए घर-बार छोड़ना सीखा जा सकता है, तो मुहम्मद से सपत्नीक रहते हुए सेवा और त्याग का पाठ पढ़ा जा सकता है। पराधीनता की ज़ंजीरों में जकड़े दीन-हीन भारत का कर्णधार गांधी जिस विद्रोह व संघर्ष की महान् पुण्यमयी शक्ति का विस्फोट कर सका, महावीर और बुद्धि आदि के लिए कैसे संभव था? राजकीय वैभव के बीच जन्मे और पले राम और कृष्ण जो उदाहरण रख सके, ग़रीब घराने में और जंगली प्रदेश में जन्म लेने वाली एक गड़रिए की संतान—मुहम्मद—वैसे उदाहरण कैसे रख सकती थी? तात्पर्य यह कि यह मानकर भी कि किसी व्यक्ति में विभिन्न गुण भीतर-ही-भीतर अपनी ज्योतिर्मयी प्रतिमा के साथ विद्यमान हैं, निश्चय ही यह भी मानना ही होगा कि परिस्थिति वश तथा समयाभाव के कारण वह सब को व्यवहृत व प्रदर्शित नहीं कर सकता है, और ऐसी हालत में क्यों कर मानव-जीवन की सभी समस्याओं को सुलझाने के लिए हम उस एक ही व्यक्ति से प्रेरणा पा सकते हैं? लब्धि रूप से व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो गुण हैं, वे उस समय तक अनुयायी या अनुकरण-कर्त्ता के लिए व्यर्थ हैं जब तक उपयोगात्मक रूप में उनकी अभिव्यक्ति न हो, इसलिए व्यक्ति विशेष को पूर्ण माना भी जाय तो भी एकान्तिक रूप से उसे अनुकरणीय व आदर्श नहीं माना जा सकता, अथवा हर परिस्थिति में उसी से प्रेरणा लेने की भावना को मान नहीं दिया जा सकता। जीवन एक बहुत ही उलझी हुई पहेली है। उसके अनेक पहलू हैं और हर पहलू को लेकर असंख्य प्रश्न खड़े होते रहते हैं। साथ ही तरह-तरह की परिस्थितियों में यह पहेली नए-नए रूप लेकर सामने आती है। ऐसी हालत में हम एक ही व्यक्ति को समस्त आदर्शों का पुंज मानलें, और किसी की तरफ़ नज़र न डालें तो कैसे काम चल सकता है? फिर तो जीवन एकांगी बन

जायगा, उसमें न संतुलन रहेगा। इस तरह सच यह है कि एक की नहीं, सभी की विशेषताओं से कुछ-कुछ सीख कर अपने जीवन के सभी अंगों को पुष्ट-परिपुष्ट किया जा सकता है, और स्पष्टतः यहां किसी भी व्यक्ति या ग्रंथ विशेष में पूर्ण श्रद्धा कर निश्चित होने का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है। व्यक्तित्व के आधार पर किसी वचन को प्रमाण या अकाट्य मानना विचारानुमोदित श्रद्धा का नहीं, अन्ध-श्रद्धा का ही विषय है। जो श्रद्धा विचारकता व निरीक्षण-परीक्षण के मार्ग को अवरुद्ध करे, जो श्रद्धा बुद्धि को आत्मसमर्पण करने की ही सीख दे, वह अंधश्रद्धा है और शब्द-प्रमाणवाद इसी अंधश्रद्धा की नींव पर स्थित मन की दासता के दुर्ग की वह चहार-दीवारी है जिसके भीतर ही भीतर व्यक्ति की सारी वृत्तियां-प्रवृत्तियां, आशाएँ-आकांक्षाएँ, सुख-दुख, गरज़ यह कि उसका सारा ही व्यक्तित्व घिर कर रह जाय और जिसमें बाहर से हवा को अन्दर लाने वाले रोशनदान व खिड़कियाँ भी न हों। ऐसी मानसिक दासता के चंगुल में फंस कर व्यक्ति, व्यक्ति या ग्रन्थ-विशेष को ही सारे ज्ञान-विज्ञान का भंडार मान बैठता है और ऐसा समझने लगता है कि उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे जाना जाए या ग्रहण किया जाए। कैसे-कैसे महत्त्वपूर्ण आविष्कार आज हो रहे हैं, ज्ञान-विज्ञान के हर विभाग में आज कितनी तेज़ी से आगे बढ़ा जा रहा है, किस तरह आज बन्द कपाट खुलते जा रहे हैं, और किस तरह मानव-जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिए महान् प्रयत्न किए जा रहे हैं, मनुष्य कहां से कहां आ गया है, उसके विचारों व आदर्शों की दुनिया में कैसा ज़बर्दस्त तहलका मचा हुआ है, इन सब बातों की ओर से शब्द-प्रमाणवादी व्यक्ति तटस्थ व निरपेक्ष ही रह जाता है, मानों इन बातों से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मानसिक दासता की यह स्थिति सचमुच बड़ी ही करुण व दयनीय है। यहां संस्कारों की गुलामी है, शिक्षा-दीक्षा की अंध-मान्यता है। संस्कार

अच्छे भी होते हैं, और बुरे भी। शिक्षा-दीक्षा भी अच्छी और बुरी, दोनों तरह की होती है। अतः जो संस्कार या शिक्षा-दीक्षा मात्र का परिणाम है, उसका सत्य या औचित्य से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। शब्द-प्रमाणवाद की अंधेरी दुनिया में संस्कार दिल और दिमाग़ को बिगाड़ देते हैं, यहाँ तक कि वहाँ मौलिक रूप से सत्य और असत्य को समझने के लिए अपने और पराए के अतिरिक्त कोई आधार ही नहीं रह पाता है। आज इसी स्व-मोह के चक्र में फंस कर करोड़ों व्यक्ति भ्रष्ट हो रहे हैं, अपनी आत्मा का हनन कर रहे हैं। कितने व्यक्ति ऐसे हैं जिन्होंने एकान्त में बैठ कर ठण्डे दिल से यह समझने की कोशिश की है कि आख़िर जन्म व पालन-पोषण के ही कारण अथवा संस्कार व शिक्षा-दीक्षा के ही परिणाम-स्वरूप किसी व्यक्ति, ग्रंथ या वाद विशेष में एकान्त रूप से ऐसी अगाध श्रद्धा क्यों रखी जाय कि बाहर के विशाल विश्व के किसी भी व्यक्ति व तत्व के लिए ज़रा भी शेष न रहे? क्यों न अपनी दृष्टि साफ़ व खुली रखी जाय? क्यों न निष्पक्ष व निर्भय होकर देखने पर जहाँ भी और जितनी भी सचाई या अच्छाई मिले, उसे निःसंकोच ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व का विकास किया जाय? कहने की आवश्यककता नहीं है कि शब्द-प्रमाणवाद की दासता में हानि या अनौचित्य क्या है, यह न पूछ कर यही पूछना ठीक है कि आख़िर उससे लाभ क्या है, उसमें औचित्य क्या है?

प्रश्न—क्या आपका यह अभिप्राय है कि शब्द-प्रमाणवाद के क्षेत्र में समयोचित परिवर्तन या सुधार के लिए स्थान नहीं है, जड़तामयी स्थिरता ही वहाँ है?

उत्तर—हाँ! शब्द-प्रमाणवाद, समयोचित परिवर्तन या सुधार की एक बड़ी से बड़ी रुकावट है। यूं प्रमाणवादी क्षेत्र में भी भीतर

परिवर्तन होते हैं, सुधार किए जाते हैं, लेकिन वे परिवर्तन या सुधार शर्तों से अथवा अनेक बंधनों में बंधे होने के कारण कोई लाभ नहीं कर पाते हैं। वहां जब भी किसी सुधार या परिवर्तन की आवाज़ उठाई जाती है, तब शब्द-प्रमाणवाद का विरोध न करते हुए ही कोई मार्ग निकालने का प्रयत्न किया जाता है और इस के लिए भी किसी न किसी तरह प्रमाणवादी हथकंडों को ही काम में लिया जाता है। ऐसे प्रमाणवादी 'सुधारक' की यही कोशिश होती है कि विरोध का सामना करने के लिए यह ढूँढ निकाले कि प्रमाण माने जाने वाले ग्रन्थों में वर्तमान में व्यवहृत व्यवस्था से भिन्न या विरोधी वांछनीय व्यवस्था का कहीं उल्लेख है क्या? इसके लिए वह ग्रन्थों को खोजता है और यदि कहीं वह ऐसी कोई बात पाने अथवा खींचातानी या अर्थ का अनर्थ करके बनाने में सफल हो जाता है तो फिर क्या कहना है, उसका एक गुट बन जाता है, सैंकड़ों उसकी हां में हां मिलाने लगते हैं, पार्टीबाज़ी का बाज़ार गर्म हो जाता है, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद और मुबाहसे होते हैं, वितंडावाद होता है, गाली-गलौच होती है, मार-पीट भी हो जाती है, और यह सिलसिला बढ़ता ही जाता है। प्रमाणवादी 'सुधारक' को, कुछ तो प्रमाणवाद-जन्य स्व-अज्ञान या दृष्टि-दोष के कारण और कुछ उसके संस्कार-जन्य आतंक के फल-स्वरूप, यह साहस नहीं हो पाता है कि वह डंके की चोट पर इस सरल सत्य की घोषणा करे कि शास्त्र-प्रणीत या शास्त्रानुमोदित होने से, असत्य सत्य नहीं हो सकता, अकल्याणकारी कल्याणप्रद नहीं बन सकता, अथवा शास्त्रीय अनुमोदन न मिलने से, बल्कि शास्त्र द्वारा विरोध होने से भी सत्य असत्य नहीं हो सकता, कल्याणकारी अकल्याणकारी नहीं बन सकता। पहिले कुछ भी हो, अब या आज की परिस्थिति में ऐसा होना ज़रूरी है, यह कहने की क्षमता उसमें नहीं आ पाती है और आए भी कैसे जब कि

प्रमाणवाद के चंगुल में उसकी विवेक-बुद्धि सत्यासत्य या उचिता-चित का निर्णय करने के लिए अयोग्य या असमर्थ बन जाय, वह लूली-लंगड़ी या अपाहज बन जाए। शब्द-प्रमाणवादी दावा करता है कि सूर्य के प्रकाश में देखने वाले बाहरी चमड़े की आँखों से देखते हैं जबकि वह स्वयं जंगल के घनीभूत अन्धकार में हृदय की आँखों से सत्य का दर्शन करता है, जबकि होता यह है कि वह जीवन के बीहड़ वन के घनीभूत अन्धेरे में भटकता है, टटोलते-टटोलते और ठोकरें खाते-खाते बेचारा ढेर हो जाता है, जीवन बीत जाता है, और हाथ कुछ भी नहीं आता है। निश्चय ही प्रमाणवाद के उस गला घोंटने वाले वायुमंडल में सांस लेना सर्वनाश का आवाहन करना है।

प्रश्न—अपनी बुद्धि को ही निर्णायक मान लेना क्या एक तरह का प्रमाणवाद नहीं है? क्या उसमें अहंकार नहीं है? क्या वहाँ अपने में ही अंधश्रद्धा नहीं है?

उत्तर—अपनी बुद्धि को निर्णायक मानना और उसके निर्णय में भूल की संभावना को अमान्य करना प्रमाणवाद जैसा ही है, बल्कि इस अहम्-वाद में शब्द-प्रमाणवाद से भी ज्यादह अहंकार-वृत्ति की कालिमा है। लेकिन अपनी बुद्धि को निर्णायक मानना और साथ ही, उसके निर्णयों में श्रद्धा रखते हुए व तदनुकूल आचरण करते हुए भी उनमें भूल की संभावना को अस्वीकार न करना तथा भूल मालूम होने पर उसे दूर करने की मन की तय्यारी होना बुरा नहीं है। यह बुद्धि का आत्म-विश्वास-पूर्ण समुचित उपयोग है। पहिले हम यह विवेचन कर ही चुके हैं कि अलग-अलग अपने हर मत या विचार में पूर्ण श्रद्धा रखना व तदनुरूप आचरण करना और

सामूहिक रूप से अपने मतों या विचारों में भूलें होने की संभावना को मान्य करना, इन दोनों बातों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वैज्ञानिक सरणि से अनुभव व अध्ययन के आधार पर निष्पक्ष दृष्टि से एक निर्णय करना या कुछ भी निर्णय न कर अनुसंधान, निरीक्षण व चिंतन का मार्ग प्रशस्त रखना, इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है, वल्कि विचार करने की ठीक और युक्तियुक्त तथा वैज्ञानिक पद्धति यही है। यहां शास्त्र या ग्रन्थ आदि के समुचित उपयोग के लिए स्थान नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यहाँ शास्त्र न्यायाधीश के रूप में निर्णायक नहीं हैं। वे प्रतिष्ठित गवाह के रूप में सहायक हैं और इस नाते उन्हें जांचा जा सकता है, उनके बयानों पर गौर किया जा सकता है, और ऐसा होना भी चाहिए ही। यहाँ अपनी बुद्धि के विषय में अहंकार-भावना न होने से इस तरह के साक्षीत्व की सार्थकता व उपयोगिता आँख से ओझल न होगी और सदा ही इसे मर्यादोचित मान मिलता रहेगा जैसा कि उपयुक्त भी है। निश्चय ही इस वैज्ञानिक विचार-पद्धति में न अहंकार है, न अंध-विश्वास है, न दुराग्रह है, वल्कि यहाँ भूल-सुधार व समयोचित परिवर्तन की पूरी सुविधा है। यहाँ प्रमाणवाद की मलिनता नहीं है। यहाँ सत्य-दृष्टि है, सत्य है।

प्रश्न—क्या प्रमाणवाद की इस भर्त्सना से आपका यह अभिप्राय है कि श्रद्धा सर्वथा व सर्वदा हेय है, और तर्क ही सब कुछ है।

उत्तर—नहीं। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि श्रद्धा सर्वदा या सर्वथा अवांछनीय है, और न तर्क को अत्यधिक महत्त्व देना ही यहां अभिप्रेत है। वास्तव में शब्द-प्रमाणवाद की भर्त्तस्ना, श्रद्धा की नहीं; श्रद्धा के कुत्सित रूप की, अंधश्रद्धा की, अविचार की, विवेक-शून्यता की, भर्त्सना है। और, जहाँ हमने बुद्धिवाद पर ज़ोर दिया है, वहाँ हमारा यह अभिप्राय हरगिज़ नहीं है कि श्रद्धा के उज्ज्वल

पक्ष को अश्रद्धेय कर, कोरे तर्क से ही काम लिया जाय। सच तो यह है कि श्रद्धा और तर्क दोनों ही बुद्धि-विवेक के दो बाजू हैं। इन दोनों के बीच कहीं कोई विभाजक रेखा खींचना असम्भव है। तर्क का कोई मूल्य नहीं है यदि उसमें पहिले अपनी बुद्धि में, विचार व निर्णय करने की अपनी क्षमता में, श्रद्धा न हो। साथ ही श्रद्धा निकम्मी है, लूली-लंगड़ी है, अपाहज है, यदि उसके पीछे तर्क की शक्ति न हो। श्रद्धा अंधी है यदि तर्क रूपी नेत्रों से न देख सकती हो। जब तर्क तेज़ घोड़े की तरह सरपट दौड़ने लगता है, श्रद्धा लगाम बन कर उसे वश में लाती है, और जब श्रद्धा मरियल घोड़ी की तरह एक ही जगह स्थिर या जड़वत् बन कर बैठ जाती है, तो तर्क चाबुक बन कर उस पर पड़ता है और तब वह आगे बढ़ती है। तर्क के बिना श्रद्धा अंधश्रद्धा है, और श्रद्धा के बिना तर्क कुतर्क है। जो लोग तर्क की डींग मारते और श्रद्धा को हेय समझते हैं, वे अंधश्रद्धा को देखते हैं और श्रद्धा की एकछत्र महिमा गाने वाले कुतर्क पर दृष्टि रखते हैं। बुद्धि-विवेक श्रद्धा और तर्क दोनों के समन्वित उपयोग में है। बुद्धिवादी व्यक्ति अंधश्रद्धा और कुतर्क दोनों को दूर रखते हुए, श्रद्धा व तर्क के उज्ज्वल व स्वस्थ पहलुओं को अपनाता है, और इसीलिए हमने यहाँ बुद्धिवाद को सम्यग्दशन का लक्षण माना है। रही प्रमाणवाद की भर्त्सना की बात, सो यह अंधश्रद्धा का विरोध ही है, और अंधश्रद्धा साधारणतः मनुष्य का एक सहज दोष होने से अत्यधिक व्याप्त है इसलिए अंधश्रद्धा के जन्मदाता प्रमाणवाद को लेकर हमने कुछ विस्तृत विवेचन किया है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि हम कुतर्क के उतने विरोधी नहीं हैं। पर कुतर्क मनुष्य का सहज दोष नहीं है, वह मुख्यतः अंधश्रद्धा की प्रतिक्रिया ही है। अतः अंधश्रद्धा की भर्त्सना में भी प्रकारान्तर से कुतर्क का विरोध आ ही जाता है।

पाँचवाँ लक्षण—

सापेक्षवाद—दृष्टि सापेक्षवादी हो। सापेक्षवाद विभिन्न दिशाओं व दृष्टिकोणों से, अलग-अलग वस्तुओं या पहलुओं से अथवा अनेकानेक, अधिक से अधिक, अपेक्षाओं से अध्ययन करने की प्रक्रिया है। सांगोपांग विश्लेषण द्वारा सर्वांगीण चित्रण तो इस प्रक्रिया के अंतर्गत है ही, साथ ही ऐतिहासिक व तुलनात्मक अध्ययन भी, क्षेत्रिक व कालिक पृष्ठभूमि के निरीक्षण व पारिस्थितिक विवेचन की सूक्ष्मताओं के साथ, यहाँ एक विशेष स्थान रखता है। यह सत्यान्वेषण का एक मार्ग है, और सत्यनिरूपण की एक शैली व पद्धति भी है। यहां संशयवाद के लिए, द्विविधा के लिए अथवा ढिलमिलपन या अस्थिरता के लिए गुंजायश नहीं है। बौद्धिक क़लाबाज़ी, वाक्चातुर्य या खड़-भाषा की खींचातानी का थोथा खेल भी यहाँ नहीं है। झूठी मध्यस्थता, छलभरी चाटुकारिता, अथवा सभी को प्रसन्न व संतुष्ट करने की दंभपूर्ण नीति यहाँ सर्वथा गर्हित है। यहाँ मिथ्यात्वों का समन्वय नहीं है और न पाखण्डों का समूह ही है। यहाँ है सत्यांशों का क्रम-बद्ध व व्यवस्थित योग-संयोग तथा उनका युगपत् ग्रहण, सत्य के विविध रूपों के पारस्परिक सामंजस्य व सामूहिक एकत्व का दर्शन, अथवा यथासम्भव यथासाध्य पूर्ण-यथार्थ सत्य का साक्षात्कार।

वास्तव में सापेक्षवाद सब दिशाओं से खुला हुआ एक मानस-चक्षु है, जो संस्कारों व परम्परागत विचारों या धारणाओं के

परे भी देखता है, दूर-दूर तक देखता है। वर्तमान ही नहीं, भूत भी उसके दृष्टि-क्षेत्र के अंतर्गत ही है और भविष्य को, दूर या दीर्घ-कालीन भविष्य को, अधिक से अधिक स्पष्ट रूप से देखने की क्षमता व शक्ति भी उसमें है। उसके आगे-पीछे, बाहर-भीतर, सभी ओर विवेकमयी प्रकाश में सत्य दिगम्बर है, नग्न है, सुस्पष्ट है।

पर, सत्य का ग्रहण या दर्शन माध्यम के द्वारा ही होता या हो सकता है, और यह एक मर्यादा ही है। फिर, व्यक्ति कितना ही प्रखर व सूक्ष्म द्रष्टा हो, उसकी दृष्टि कितनी ही विशाल, अथवा सार्वत्रिक व सार्वकालिक ही क्यों न हो, वह कितना ही तटस्थ, निःपक्ष तथा न्यायप्रिय हो, चाहे बौद्धिक ईमानदारी उसमें भरपूर हो, उसकी अपनी सीमाएँ व मर्यादाएँ हैं ही। सच तो यह है कि वह स्वयं ही एक मर्यादा है। प्रकृति ने, मन-मस्तिष्क की बनावट ने ही, मानवीय विवेक-बुद्धि की शक्तियों को सीमाबद्ध किया है। उस सीमा का अतिक्रम असाध्य है। अतः विश्लेषण व विवेचन, निरीक्षण व परीक्षण, अनुसंधान व आविष्कार, विचारणा व गवेषणा, चिंतन व अध्ययन, ये सभी मानसिक व बौद्धिक प्रयास यत्न-पूर्वक उसे करने ही होते हैं। इसी यत्न का नाम सापेक्षवाद है। वस्तुतः वह कोई वाद नहीं है, वह मानव-मस्तिष्क का संतुलन है, मानव-बुद्धि का सद्-विवेक है। यही वह राह है जहाँ हर क़दम मंज़िल है, और कहीं भी पहुँच जाइए, कितना ही आगे बढ़ जाइए, फिर भी मंज़िल दूर है।

सापेक्षवाद बुद्धिवाद ही नहीं है, वह हृदय का मंथन भी है। मन की तटस्थता यहाँ परम-साध्य है। अपने को दूसरे के स्थान में रखना और पूरी ईमानदारी के साथ रखना, अथवा अन्य व्यक्ति की परिस्थितियों को दृष्टिगत कर उसकी भावनाओं व अनुभूतियों को अपने मन में लाना या जगाना, इस साधना की कुंजी है। दूर आकाश या किसी निर्जन स्थान की निर्बाध शांति में अपने को स्थित

कर कोलाहलमय संसार और उसकी समस्याओं पर, संघर्षमय जीवन व उसकी पहेलियों पर, दृष्टि डालने की उपयोगिता है ही, और उसके लिए यहाँ कोलाहलमय संघर्षमय जग-जीवन के बीच घुस कर, अलग-अलग व्यक्तियों की अपने में स्थापना कर, और इस तरह सब में रमकर पर फिर भी अलिप्त या अनासक्त अथवा तटस्थ रह कर, देखना भी होता है। सहानुभूति या संवेदना इसी का नाम है। निरन्तर अपने मन को टटोलना, वहाँ किसी कोने में या छद्म वेप में मोह, स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेप या पक्षपात तो नहीं है, अहंकार तो नहीं है, यह देखते रहना, 'स्व' को 'पर' समझ कर उसे भी अन्य 'परों' के साथ उसी कोटि में रख कर न्यायाधीश के नाते उस पर भी कड़ी दृष्टि रखना और उसके प्रति वही तटस्थ-भाव रखना जो दूसरों के प्रति है, आत्म-निरीक्षण का यह कठोर अभ्यास यहां नितान्त आवश्यक है। ऐसा अभ्यासी जब भी पूंजीवाद पर विचार करेगा, वह नंगे और भूखे मज़दूर की भावनाओं में प्रवेश करेगा, काम करने में समर्थ व इच्छुक पर काम न पाने वाले बेकार-ठाली नौजवान के दिल में घुसेगा, त्रस्त व शोषित वर्ग का ही एक सदस्य अपने को मानकर, उसी की जैसी मनोवेदनाओं का अनुभव करेगा। वर्ण-व्यवस्था पर विचार-दृष्टि डालते समय वह एक ब्राह्मण या द्विज की ही नहीं, एक शूद्र की दृष्टि से, एक अन्त्यज की दृष्टि से भी, देखेगा, तथा वह स्वयं अपने हृदय में चिर-प्रताड़ित-पीड़ित भंगी-चमार को बिठा कर अपने अन्तर को टटोलेगा। जब तक उसमें यह क्षमता नहीं आएगी, वह स्वयं अपने प्रति तटस्थ नहीं बन सकता और तब तक वह ठीक-ठीक सोच-समझ ही नहीं सकता। सापेक्षवाद तभी काम की चीज़ है, जब मन में ऐसी ऊँची सहानुभूति व संवेदना ओतप्रोत हो जाए।

देखने में आता है कि प्रायः विद्याभिमानी व्यक्ति अपने मन्तव्य को निरपेक्ष रूप से सत्य या पूर्ण-परिपूर्ण-सम्पूर्ण सत्य (Absolute

truth) के रूप में ही भीतर ही भीतर ग्रहण कर, दूसरों के मन्तव्यों को सापेक्षवाद के नाम से या किसी भी नाम से तोड़-मरोड़ कर अपने मन्तव्य के अनुकूल बनाया और बताया करते हैं, और उस पर से वे उन सभी मन्तव्यों को अपने 'चिर-सत्य' के विभिन्न रूप या अंग कहने में संकोच नहीं करते हैं। पर यहाँ न सापेक्षवाद है, न समन्वयवाद है। यहाँ अव्यक्त रूप से इसी भाव का प्रदर्शन है, प्रदर्शन न भी हो तो भीतर ही भीतर यह अनुभूति तो है ही, कि मानों व साहूकार हैं, दूसरे क़र्ज़दार, अथवा मूल वस्तु के अधिकारी वे हैं और दूसरों के पास उसी के नाना रूप या शाखाएँ हैं। यहाँ सत्य की विनम्र व विशुद्ध अनुभूति नहीं है, सत्य नहीं है। यहाँ है अहंकार की पूजा, दंभ या छल। हम देखते हैं कि अनेक उच्च कोटि के विद्वानों ने बुद्धि-बल से इस तरह की पूजा खुल कर की है, और उसे समन्वय का नाम देने का साहस किया है। एक हिन्दू दार्शनिक विद्वान ने विभिन्न सभी धर्मों पर अपने हिन्दू धर्म का अवतारवाद, ब्रह्मा-विष्णु-महेश का त्रिविध ईश्वरवाद (Trinity) तथा अन्य सभी मन्तव्य थोपने का प्रयास किया है और इसके लिए खूब अर्थ का अनर्थ कर, रबड़ की तरह भाषा की खींचातानी कर, अपनी बुद्धि का भरपूर उपयोग किया है, पर कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह दुरुपयोग है। इसी तरह का दुरुपयोग सभी सम्प्रदाय वालों ने अपने-अपने तरीक़े से किया है। ऐसे सभी लोगों की, इस तरह की खींचातानी करके बड़े अभिमान के साथ हर किसी से कहने की आदत हो जाती है कि तू भी सत्य कहता है, पर सच यह है कि वहाँ भीतर ही भीतर, बहुत ही सूक्ष्म व अव्यक्त रूप से ही सही, यही भावना व धारणा निवास करती है कि मैं ही सत्य का, मौलिक सच्चाई का, अधिकारी हूं। यहाँ एकान्त है, सत्य के एकाधिपत्य का दुरभिमान है। सापेक्षवाद के लिए जिस मानसिक तटस्थता व बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है, उसका यहाँ अभाव ही है। ऐसा व्यक्ति सापेक्षवाद की सच्ची सूझ-बूझ से कोसों दूर है।

सापेक्षवाद समन्वय करता है, पर सत्यांशों के बीच, सत्य के विविध रूपों के बीच, सत्य और असत्य के बीच नहीं। समन्वय यहाँ साध्य नहीं है, एक साधन मात्र है। उस साधन से जब सत्य की सिद्धि हो तभी उसका उपयोग है अन्यथा नहीं। समन्वय के नाम पर असत्य को आश्रय या संरक्षण मिले, यहाँ यह असह्य है। कोई अच्छी से अच्छी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें बुराई न हो और कोई बुरी से बुरी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें अच्छाई न हो। बुरी से बुरी वस्तु का सदुपयोग हो सकता है। और अच्छी से अच्छी वस्तु का दुरुपयोग भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में सदुपयोग को लेकर, सापेक्षवाद की दुहाई देते हुए यह कह कर कि जब किसी वस्तु का सदुपयोग हो, तब वह वस्तु उस अपेक्षा से अच्छी ही है, अतः सदुपयोग पर ज़ोर देना चाहिए, न कि वस्तु को अथवा किसी भी मत, विचार, सिद्धान्त या व्यवस्था को, जो जन्म ले चुकी है या जो काफ़ी व्याप्त व मान्य हो चुकी है, मिटाने पर इस तरह बुरी से बुरी वस्तु अथवा मत, सिद्धान्त या व्यवस्था को अभयदान दे दिया जाय, तो यह सच्चे अर्थों में सापेक्षवादी सत्य-दृष्टि नहीं है। यहाँ समन्वय-वादी मिथ्या-दृष्टि है, जब कि सापेक्षवाद में समन्वयवादी सत्य-दृष्टि के लिए ही स्थान है। सापेक्षवाद का अर्थ यह हरगिज़ नहीं है कि एक अपेक्षा से जो दिखे उसके आधार पर ही एक मत या राय बना ली जाय। यहाँ तो अधिक से अधिक अपेक्षाओं से, अधिक से अधिक बाजुओं या पहलुओं से, अधिक से अधिक दृष्टिकोणों से तथा अधिकाधिक गहरे पैठने की मार्मिक रीति से देख-टटोल कर और फिर ऋण-धन का सारा हिसाब लगाकर, सामूहिक रूप से ही किसी एक निर्णय पर पहुँचना इष्ट है। इसीलिए लक्षण-निरूपण में ऐतिहासिक या पारिस्थितिक विवेचन तथा तुलनात्मक अध्ययन की संयुक्त प्रक्रिया को हमने सापेक्षवाद का अनिवार्य अंग कहा है।

ऐतिहासिक अध्ययन—

समय-समय की विचारधाराओं व परिस्थितियों को अपेक्षित कर, सतत् होने वाले परिवर्तन की परम्परा व कार्य-कारण-श्रृंखला को दृष्टिगत कर तथा इतिहास द्वारा मानव-निर्माण और मानव द्वारा इतिहास निर्माण के उभयपक्षी सत्य को समक्ष रख कर, किसी भी समस्या, व्यवस्था या संस्था के विषय में विचार करना ऐतिहासिक अध्ययन की प्रक्रिया है।

इस विचार-प्रणाली के अन्तर्गत इतिहास कोई खिलवाड़ या तमाशा नहीं है, वह समाज-शास्त्र का विज्ञान-सम्मत एक मौलिक सत्य है। मानव द्वारा इतिहास-निर्माण का अर्थ यह नहीं है कि उसने उड़ान भरी और जादू का डंडा घुमाया और घटनाचक्र अकस्मात बदल गया, इतिहास का नव-निर्माण हो गया। मनुष्य द्वारा इतिहास-निर्माण का कार्य अपनी सीमाएँ रखता है। कोई भी मनुष्य हो, वह उपलब्ध साधनों से परे नहीं जा सकता, उसे अपरिहार्य रूप से उन सब राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्थाओं के वृत्त में रह कर काम करना पड़ता है जो उसको पहिले की पीढ़ियों या पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं। उसका मन-मस्तिष्क अथवा उसके भाव-विचार भी एक हद तक उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त सामग्री के अंग ही हैं। इस समस्त सामग्री को अथवा सभी उपलब्ध साधनों को वह प्रगति के पक्ष में भी प्रयुक्त कर सकता है विपक्ष में भी। यह अनिवार्य नहीं है कि मनुष्य सदा इतिहास को आगे ही बढ़ाए, विकास या प्रगति की परम्परा का द्रुतीकरण ही करें, वह इतिहास की गति को बाधाग्रस्त करने का करणीभूत भी हो सकता है। इस तरह जहाँ तक परिस्थितियों के वृत्त में सीमित रह कर कार्य करने की अनिवार्य विवशता है, इतिहास मानव-निर्माता है, और जहाँ तक परिस्थितियों

व तज्जन्य उपलब्ध साधनों के सदुपयोग या दुरुपयोग करने की कार्यशीलता है, मनुष्य इतिहास-निर्माता है, और इन दोनों ही पहलुओं से मानव-जीवन का ऐतिहासिक अध्ययन समान रूप से सम्बद्ध है। इतिहास के निर्माण में मनुष्य का एक विशेष परिस्थिति में क्या और कितना हाथ हो सकता है, इतिहास का क्या क्रम है, किस सीमा तक मनुष्य उसे आगे बढ़ा सकता है या पीछे ढकेल सकता है, किसका स्वार्थ प्रगति में सहायक और किसका स्वार्थ बाधक है, कौन वर्ग किस समय क्या पक्ष ग्रहण करेगा और क्यों करेगा, किस ओर मोड़ने से इतिहास मानव-जाति के सर्वतोमुखी कल्याण की साधना करेगा, किस घटना के मूल में क्या कारण है, अथवा बाह्य रूप से किसी घटना के जो परिणाम दीखते हैं, उनकी जड़ें उस घटना से कितनी पुरानी हैं, और कहां तक गई हैं, अमुक घटना किस रूप में घटित हुई, किन कारणों से घटित हुई और आगे चल कर उसने परिस्थितियों को बदलने में व नई घटनाओं को जन्म देने में किस तरह कितना हाथ बंटाया, इस तरह के प्रश्न ऐतिहासिक अध्ययन के अंतर्गत आते हैं, और उनको समझे या सुलझाए बिना इतिहास की परतों से ढके हुए सत्य का साक्षात्कार होना असम्भव है।

तुलनात्मक अध्ययन—

पर ऐतिहासिक अध्ययन भी अधूरा है यदि उसके साथ तुलनात्मक अध्ययन न हो। एक समय एक व्यक्ति उत्पन्न होता है और एक बात कहता है, किन्तु किसी के कान पर जूं नहीं रेंगती, पर कुछ समय उपरान्त दूसरा व्यक्ति वही बात दुहराता है और उससे समाज में तूफ़ान आ जाता है, आज एक व्यक्ति एक बात कहता है और लोग उससे ज़रा भी क्षुब्ध नहीं होते पर एक समय जब किसी ने वही बात और भी हलके ढंग से कही थी तब शोर मच गया था और आंधी-सी चल पड़ी थी, ये सब विषमताएँ तुलनात्मक अध्ययन

द्वारा ही स्पष्ट रूप से समझ में आती हैं। एक समय सती-प्रथा का विरोध भी बड़ा क्रान्तिकारी क़दम था पर आज कोई आवाज़ उठाए तो पागल समझा जाएगा। असंख्य मन्तव्यों को लेकर हम देखते हैं कि अतीत की 'मूर्खता' आज की 'बुद्धिमानी' है और आज की 'मूर्खता' पहिले कभी 'बुद्धिमानी' थी। यह अन्तर क्यों है, इसका उत्तर तुलनात्मक अध्ययन ही ठीक तरह देता है, और तभी इन विविधताओं के बीच सामंजस्य दिखता है। किसी व्यक्ति की महानता या लघुता का, श्रेष्ठता या हीनता का, स्पष्टीकरण भी इसी अध्ययन से होता है। अमुक जगह अमुक समय जो परिस्थितियां थीं, विभिन्न समुदायों के जो आपसी सम्बन्ध थे, भिन्न वर्गों में चेतना का जो भिन्न-भिन्न परिमाण था, तथा उनमें जो विरोधी अवस्थाएँ थीं, इन सब की पृष्ठभूमि में मानव-कल्याण के लिए क्रान्ति का कौनसा रूप या दृश्य संभाव्य था और यथार्थ में जो क्रान्ति हुई, वह उससे कितनी मिलती-जुलती या बेमेल थी, विभिन्न वर्गों या समुदायों के बीच संघर्ष क्यों हुआ और उसका अन्त किस तरह हुआ, उसके क्या परिणाम हुए और क्यों हुए, उन सब बातों को देखने व समझने के बाद ही किसी क्रान्ति, संघर्ष, जातीय चेतना, आदि विषयों का ठीक-ठीक परिचय हो सकता है तथा तभी क्रान्तिकारियों, नेताओं या जन-नायकों के प्रति न्याय किया जा सकता है। आज की परिस्थितियों व आवश्यकताओं की कसौटी पर हजारों वर्ष पहिले की व्यवस्था को कसने की मूढ़ता यहाँ नहीं है, और इस अपेक्षा से पहिले की भिन्न परिस्थितियों के अनुकूल व्यवस्थाओं को आज के युग में व्यक्ति या समाज पर लादने का आग्रह भी यहाँ अमान्य है। प्राचीनता के अध-मोह या अंधानुकरण का खोखलापन तुलनात्मक अध्ययन से सुस्पष्ट है। और भी अनेक मूढ़ताओं का निराकरण यहाँ होता है। दृष्टि की विशालता और समभाव का बीज भी यहाँ है।

इस तरह ऐतिहासिक व तुलनात्मक अध्ययनों की संयुक्त प्रक्रिया अपेक्षाकृत अध्ययन या अपेक्षावादी निरीक्षण-परीक्षण-चिंतन का प्राण है। यहां कोरी कल्पना या संस्कार-जन्य श्रद्धा नहीं, वरन् विचारणा व गवेषणा है। सच तो यह है कि यह प्रक्रिया अनेकान्तवाद का सार है। यही वैज्ञानिक विचार-पद्धति है।

छठा लक्षण—

मध्यम-मार्ग—दृष्टि मध्यम-मार्गी हो, निरतिवादी हो। मध्यम-मार्ग मनुष्य का राजमार्ग है, धर्म-मार्ग है। मर्यादा-पालन इसी का दूसरा नाम है। सदुपयोग के नाम से भी उसे पुकारा जा सकता है। मनुष्य के आदर्श और व्यवहार का सुन्दरतम सामंजस्य यहीं है। निस्सन्देह यह मानव-जीवन का एक विराट सत्य है जिसकी झाँकी सदा से ही तरह-तरह के रूपों में मनुष्य को मिलती रही है। प्रकृति इसी का संदेश देती है और महामानव आ-आ कर यही संदेश अपने-अपने युग की परिस्थितियों व आवश्यकताओं को अपेक्षित रख कर अपने-अपने ढंग से दिया करते हैं।

मध्यम-मार्ग के दोनों ओर अति है। अति उन्माद है, दुरुपयोग है, असंयम या झूठा संयम है, असत्य है। लेकिन यह कमज़ोर व अपूर्ण मनुष्य सदैव ही मध्यम-मार्ग से विचलित होकर, पथ-भ्रष्ट होकर, इस असत्य को प्रश्रय देता रहा है और यहीं उसके दुर्भाग्य का स्रोत है, यही उसके दुःखों का रहस्य है। उसे सुख शान्ति व कल्याण की साधना करनी है, उसे शिव सुन्दर व सत्य को जीवन में उतारना है, उसे भूतल पर ही स्वर्ग बसाना है तो उसे विवेक-पूर्वक एवं दृढ़ता के साथ इस मध्यम-मार्ग पर चलना है।

मध्यम-मार्ग का यह अर्थ नहीं है कि आदर्श गिराया जाय। आदर्श अपने उच्चतम स्थान पर रहे और मनुष्य सदैव उससे सत्प्रेरणाएँ लेता रहे, मानव-जीवन के विकास के लिए यह अनिवार्य है। आदर्श को लेकर समझौता करने की दब्बू नीति यहाँ नहीं है। हाँ, यहाँ आदर्श को इतना ऊपर उठाने का निषेध अवश्य है कि वह दृष्टि से ओझल ही हो जाय, या एक बेढंगी, अव्यवहार्य या असंभव, अथवा कोरी हवाई कल्पना जीवन पर छा जाय। आवश्यक है कि एक उच्च विकासोन्मुख, सजीव, प्रेरणादायक व मार्ग-निर्देशक भव्य कल्पना को सन्मान मिले, और यह तभी संभव है जब हम मध्यम-मार्ग की सीमाओं का अतिक्रम न करें। आदर्श और व्यवहार की टक्कर के लिए यहाँ कोई गुंजायश नहीं है। फिर, एक-दम एक ही डग में मंज़िल तक पहुंचने का बाल-हठ भी यहाँ नहीं है, बल्कि आदर्श को सदैव लक्ष्य में रखते हुए साधना के मार्ग पर स्थिरता व दृढ़ता के साथ एक-एक क़दम चलकर आगे बढ़ते रहना ही यहाँ उद्दिष्ट है। निश्चय ही मध्यम-मार्ग एक सच्चे आदर्श और विषम परिस्थिति के बीच का, आदर्श को गिराने वाला और व्यवहार को भ्रष्ट करने वाला समझौता नहीं है, बल्कि वह एक ऐसा सन्तुलित समन्वय है जहाँ आदर्श और व्यवहार एक रूप होकर मनुष्य को ऊपर उठाते हैं।

मध्यम-मार्गी दृष्टि एक सहज मानवीय दृष्टि है। सच तो यह है कि न उसमें कोई अस्वाभाविकता है, और न कोई संकुचितता ही है। जीवन का कोई भी अंग, कोई भी वाद या सिद्धान्त, कोई भी विचार या कर्म, कोई भी प्रश्न उससे अछूता नहीं है। जब भी, जहां वहक है, उन्माद है, भ्रम है, अति है, दुराग्रह है, तभी और वहीं इसके लिए स्थान है। उदाहरण के लिए अध्यात्मवाद के प्रश्न को लें। निश्चय ही अध्यात्मवाद एक सत्य है और उसका अपना

विशेष व असाधारण मूल्य है, पर जब अध्यात्मवाद का उन्माद किसी को हो जाय तब वह बहुत भयंकर भी है। मध्यममार्गी दृष्टि इस उन्माद पर लगने वाला 'ब्रेक' है। वह कहती है कि जहाँ भौतिकवाद का दुराग्रह ठीक नहीं है, वहाँ अध्यात्मवाद का उन्माद भी अनुचित है। एक ओर घोर प्रवृत्ति है, दूसरी ओर कोरी निवृत्ति है। एक ओर प्रलय है, दूसरी ओर जड़ता है। एक ओर भोग-विलास है, दूसरी ओर निरर्थक कष्ट-सहन या स्व-पीड़न है। एक ओर अगम-अपार जल-राशि है, दूसरी ओर अनन्त मरु-भूमि है। दोनों ही ओर सर्वनाश है। कल्याण दोनों के मध्य में या समन्वय में है। इसी तरह राष्ट्रीयता के प्रश्न को लेकर मध्यममार्गी दृष्टि हमें चेतावनी देती है कि न हम इतने कट्टर राष्ट्रीय बनें कि साम्राज्यवादी बन जाएँ और न इतने अराष्ट्रीय बन पाएँ कि स्वाभिमान व स्वत्व खो बैठें, आततायी के आगे आत्म समर्पण कर दें, गुलाम बन जाएँ। गुलाम राष्ट्र आजादी के लिए लड़े तो उसकी राष्ट्रीयता वंदनीय है और वह ऐसी महान् है कि उसकी बलिवेदी पर प्राणों का उत्सर्ग करना गौरवास्पद है, लेकिन यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने या गुलाम बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील हो तो यह राष्ट्रीयता अमंगलकारी है, और इतनी घृणित व तुच्छ है कि उससे लड़ना, प्राणों की आहुति देकर भी उसका उन्मूलन करना एक महान् कर्त्तव्य है। यही बात आदर्शवाद को लेकर है। हम इतने आदर्शवादी बनें कि स्वप्नदर्शी और कल्पना-जगत के निरीह प्राणी बन जाएँ अथवा हम इतने आदर्शहीन बन जाएँ कि पथ-भ्रष्ट, बे-पेंदी के लोटे की तरह अस्थिर व डाँवाडोल बन बैठें, मध्यम-मार्गी दृष्टि इन दोनों दिशाओं में न जाने का हितोपदेश देती है। हिंसा-अहिंसा

के प्रश्न को लेकर भी उसकी ऐसी-ही देन है। वह कहती है कि न हम इतने हिंसक बनें कि दुःस्वार्थी बन कर अन्याय, अत्याचार व संहार करने लगें और न इतने अहिंसक बन जायें कि कायरता व अकर्मण्यता को ग्रहण कर शक्ति का सदुपयोग ही भूल जाएँ, अपराधी को दण्डित ही न करें, समाज में शान्ति बनाए रखने तथा देश की सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए पुलिस व फ़ौज ही विघटित करदें, अथवा इतने दब्बू, और निकम्मे बन जायें कि अत्याचार व अन्याय का प्रतिकार न कर पापाचार को अभयदान देदें। यौन-जीवन को लेकर भी मध्यम-मार्ग का ऐसा ही आदर्श है। वह चाहता है कि न हम काम-जीवन से इतना दूर भागें कि प्रकृति से विद्रोह ही कर बैठें, अतृप्ति व प्यास से तड़पने लगें, आभ्यंतर व्यभिचार में लिप्त हो जायं, अपने मन-मस्तिष्क का संतुलन खो बैठें, और न उसमें इतने निमग्न या लिप्त हो जायँ कि काम-धारा में ही डूब जायँ, विषयी, लम्पट व व्यभिचारी बन कर स्वयं को और जगत को दुख देने लगें, समाज की मर्यादा का भंग करने लगें। मध्यम-मार्ग की यही सीख व्यक्ति व समाज के प्रश्न को लेकर है। वह नहीं चाहता है कि हम इतने व्यक्तिवादी बन जायँ कि समाज के हित को या समस्त व्यक्तियों के सामूहिक हित को उपेक्षित कर दें, व्यक्ति के स्वार्थ को समाज की कल्याण-साधना में बाधक होने की छूट देदें, या हम इतने उग्र समाजवादी बन जायँ कि व्यक्तित्व के विकास के प्रश्न पर नाक-भौं सिकोड़ें, अथवा यह भूल जायँ कि मनुष्य समाज की इकाई है, समाज का जन्मदाता है और इस नाते उसका सुख समाज की सुख-शांति का मूलाधार है। ख़ैर—

इसी तरह हर छोटे-बड़े काम को लेकर मध्यम-मार्गी दृष्टि की सीख यही है कि हम एकान्तवादी बन कर न बहकें। हमें भोजन करना है तो न इतना अधिक ठूंस लें कि अजीर्ण हो जाय, और न इतना कम खाएँ कि स्वास्थ्य गिर जाए या मर ही जाएँ। कच्ची-जली

रोटी खाने या निःस्वाद भोजन करने की ज़रूरत नहीं है और मसालों से भरे हुए स्वादिष्ट तर माल खा-खाकर जिव्हा-लोलुप बनना भी ठीक नहीं है। स्वास्थ्य व साधन-सुलभता तथा समाज की खाद्य-स्थिति आदि का ध्यान रखते हुए सादा व सुरुचिपूर्ण भोजन करना ही श्रेष्ठ है। हमें अर्थोपार्जन करना है तो करें पर इतने कमाऊ न बनें कि अन्याय या अनीति से काम लें, शोषण करें, ब्लैक मारकेटिंग या रिश्वतखोरी, बेईमानी, टैक्स बचाने की राष्ट्र विरोधी कुवृत्ति, तथा ऐसे ही पाप-कर्म करें, अथवा पैसा ही हमारा परमेश्वर बन जाय, और न इतने ढीले, निष्क्रिय व उदासीन ही बनें कि आवश्यकता के अनुसार तथा औचित्य की मात्रा में भी द्रव्योपार्जन न कर सकें, यहाँ तक कि दूसरों पर, समाज पर या पृथ्वी पर बोझ बन जांय, हरामखोर बन जायँ। हमें रुपया खर्च करना है तो न इतने फ़िजूल-खर्च बनें कि दुखी या ऋणी होना पड़े और न इतने कंजूस ही बनें कि कर्त्तव्य की अवहेलना करें, लोभी बन जाएँ और निरर्थक कष्ट सहन करें। न हम इतने दानी बनें कि अपात्र को भी दान दें, या स्वयं भिखारी बनने की विवशता में पड़ जायँ और न इतने संग्रहशील बनें कि समाज में आर्थिक विषमता को प्रोत्साहन दें, अथवा दूसरों के दुख का कारण बनें, या स्वयं ही ममत्व व लालसा के शिकार बन कर विवेक-बुद्धि खो बैठें। न हम इतने भोले बनें कि कोई हमें ठगले और न हम इतने चतुर बनें कि हम ही दूसरों को ठगने लगें। न हम हैवान बनें, न हम शैतान बनें। न हम इतने अशान्त या असन्तोषी हों कि जीवन भार बन जाय, और न इतने शान्त व सन्तोषी हों कि श्मशान शांति को प्रश्रय दें या मुर्दे की तरह, जड़वत व अकर्मण्य बन बैठें, सुधार व क्रान्ति के मिशन को अव-हेलना की दृष्टि से देखने लगें। इस तरह प्रत्येक वृत्ति-प्रवृत्ति को लेकर हम एक बुद्धि-गम्य व विवेक-सम्मत मध्यम-मार्ग को ग्रहण करें, औचित्य की सीमा का अतिक्रम न करें, उन्माद पर अंकुश लगाए

रख कर सदैव दुरुपयोग को रोकें। यही मर्यादा-पालन है, समन्वय है, और यही मध्यममार्गी दृष्टि की मांग है।

प्रश्न—यह तो आपने व्यवहार-मार्ग का विवेचन किया है। तो क्या आपका यह अभिप्राय है कि जीवन में आदर्श के लिए कोई स्थान न होना चाहिए? क्या व्यक्ति को व्यवहार-कुशल मात्र ही होना चाहिए, आदर्शवादी नहीं?

उत्तर—नहीं। जब हम कहते हैं कि दृष्टि को मध्यम-मार्गी होना चाहिए, तब हमारा यह भाव नहीं है कि दृष्टि कोरी व्यवहारवादी हो वल्कि हमारा अभिप्राय यह है कि दृष्टि आदर्शवादी—यथार्थ में आदर्शवादी—हो अर्थात वह आदर्शवादी हो पर उसका आदर्शवाद ठोस व वास्तविकता पर निर्धारित हो, हवाई या कोरा, स्वप्निल या काल्पनिक न हो। इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं कि हमारे जीवन में आदर्श और व्यवहार का समन्वय हो, दोनों एक रूप हों, कम से कम दोनों अविरोधी हों। व्यवहार की सीमाओं के बीच भी आदर्श कभी ओझल न हो, एक-एक क़दम उठाते समय भी मंज़िल सामने हो, या व्यवहार सदैव निश्चयोन्मुखी हो, एक सजीव प्रेरणा, एक उदात्त व महान् भावना, एक भव्य पर ठोस कल्पना, एक सुलझी हुई विचारधारा, जीवन-पथ के पग-पग पर पथिक को आशान्वित बनाए रखे और निरन्तर उत्साह से आंखें खोले, वुद्धि-विवेक के उजाले में, आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती रहे, जब भी शिथिलता आए, ग़लत क़दम उठे या ठोकर लगे, तभी आदर्श नव-शक्ति का संचार करे, नया प्राण फूंके, और आवश्यक हो तो पथिक को धिक्कारे, ललकारे, और परिणामतः पथिक को मंज़िल ही की ओर ले जाय, आदर्श की इस महत्ता व कार्यशीलता को मध्यम-मार्ग

में स्थान प्राप्त ही नहीं है, वरन् सच यह है कि ऐसे आदर्शवाद के बिना मध्यममार्ग पर चलने की साधना असम्भव ही है।

आदर्श और व्यवहार—

दृष्टि आदर्शोन्मुखी न रहने से व्यवहार भ्रष्ट होकर आदर्श का मखौल उड़ाने लगता है और ऐसी स्थिति में आदर्श और व्यवहार के असामंजस्य को अनिवार्य या अपरिहार्य मानने का दृष्टि-विभ्रम भी उत्पन्न होकर व्यवहार के साथ आदर्श को भी ले डूबता है। "आदर्श और व्यवहार में बड़ा अन्तर है,"—यह कह-कह कर अपनी अकर्मण्यता, शिथिलता या भ्रष्टाचार को छिपाने की वृत्ति भी यहाँ जन्म ले लेती है और परिणामतः आदर्श व व्यवहार के श्रेणी-भेद को तात्विक व मूलभूत ही समझ लिया जाता है। इस भ्रम-जाल में फंसकर व्यक्ति यह भूल जाता है कि व्यवहार भले ही आदर्शमय न हो पर आदर्शोन्मुखी तो होना ही चाहिए, तथा निरन्तर आदर्श की पूर्णता की ओर बढ़ते ही रहना चाहिए। वह आदर्श क्या जो व्यावहारिक जीवन में काम न आए, या जो व्यवहार को मार्ग न दिखाए? और वह व्यवहार क्या जिसमें आदर्श की प्रेरणा न हो, अथवा जो आदर्शोन्मुखी न हो? आदर्शवाद निरी कल्पना या स्वप्न-दर्शन नहीं है। वह मानव-जीवन का एक अमर सत्य है। अतः आदर्श और व्यवहार के बीच रेखा खींचना आदर्श को गिराना और व्यवहार को भ्रष्ट करना है।

व्यवहार वह घोड़ा है जो जीवन के पथ पर दौड़ रहा है और आदर्श उसकी लगाम है। पर वह लगाम ही नहीं है, जो गलत रास्ते पर व्यवहार को जाने से रोके। वह चाबुक भी है जो उसे

निरन्तर मंजिल की ओर बढ़ने का, बढ़ते रहने का, आदेश देता है। साईस की जगह बैठा है विवेक। जब भी व्यवहार की गति बिगड़ती है, विवेक आदर्श का सहारा लेकर व्यवहार का स्थितिकरण करता है। प्रगति या विकास का यही नियम है।

दृष्टि के आदर्शोन्मुखी रहने में जीवन की गतिशीलता का सत्य प्रतिष्ठित है। यहाँ व्यवहार-परिवर्तन के साथ आदर्श या निश्चय के ध्रुव सत्य का सामंजस्य भी निहित है, और इस तरह बाह्य क्रियाकाण्ड के निरंकुश आधिपत्य की, अथवा साध्य पर साधन के आच्छादित होने की, और उसके परिणाम-स्वरूप साध्य के ही भ्रष्ट हो जाने की स्थिति के लिए यहाँ अनुकूल वातावरण नहीं है। दृष्टि आदर्श की ओर रहेगी, तब जब भी कोई व्यवहार उपयोगी न रहेगा, बाधक बनेगा, या निष्प्राण हो जायगा, तब उसे बदल कर उसकी जगह नए व्यवहार की स्थापना करने में कोई संकोच न होगा, बाहरी क्रिया मूलभाव को ग्रहण करने या अक्षुण्ण बनाए रखने में बाधक होगी, तो उस क्रिया के प्रति मोह न रह जायगा, और उसे हटाने में कोई द्विविधा न रहेगी। इस तरह परिवर्तन-मय विकास दृष्टि के आदर्शोन्मुखी रहने में निर्बाध है। यहां बाहरी विषमताओं से भीतरी एकता छिपाए न छिपेगी, वह स्पष्ट दिखाई देगी। यहीं एक और अखण्ड मानवता के दर्शन हो सकेंगे और असंख्य विभिन्नताओं में या बाह्य अनेकताओं में अन्तरंग, या आधारभूत एकता की झाँकी भी मिल सकेगी। फिर, कोई भी प्रश्न हो, कोई भी समस्या हो, उसे संकीर्ण दृष्टि से नहीं, एक व्यापक व विशाल दृष्टि से सुलझाने की ही सक्रिय प्रेरणा मिलेगी और गौण के लिए मुख्य की, शाखा के लिए मूल की, बाह्य के लिए अन्तरंग की, अथवा शरीर के लिए आत्मा की आहुति न देनी होगी, तथा मूलभूत सत्य सदैव सन्मुख रहेगा।

प्रश्न—क्या आपका यह अभिप्राय है कि आदर्शवाद में कल्पना का कोई स्थान न होना चाहिए ?

उत्तर—नहीं। हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है। कल्पना का एक मूल्य है, एक स्थान है। कल्पना आविष्कार, अनुसंधान, अध्ययन व चिंतन की जननी है। कल्पना आनन्द का स्रोत है। कल्पना जीवन-पात्र में रस उड़ेलती है और मनुष्य के नीरस व उजड़े हुए जीवन में बहार लाती है। कल्पना का संसार ऐसा स्वर्गमय है कि उसमें विचर कर मनुष्य अपनी समस्त चिंताएँ, दुख, कष्ट, अभाव, सब कुछ भूल जाता है और अपनी थकन मिटाकर मन-मस्तिष्क को तरोताज़ा बना लेता है। कल्पना प्रेरणा देती है, मार्ग-निर्देशन करती है, आशा दिलाती है, गिरते हुए को संभालती है, पतित का स्थितिकरण करती है, पथिक को आगे बढ़ने की स्फूर्ति देती है। इस तरह जीवन-पथ पर चलने वाले पथिक को कल्पना की नितान्त आवश्यकता है। इसके बिना उसका काम चल सकना असम्भव ही है। पर हाँ, यहाँ भी अति से बचने की आवश्यकता है। कल्पना को उसका उचित स्थान ही देना चाहिए। वास्तविकता पर उसे हावी होने दिया जायगा, उसे ही सब कुछ मान कर उसके आगे अपने को समर्पित कर दिया जायगा तो वह बुरी तरह जीवन पर आच्छादित होकर सर्वनाश की ओर ले जायगी। कल्पना के उन्माद में व्यक्ति उछल-कूद मचाने लगे, वर्तमान को एक-दम बदल कर अपनी कल्पना को मूर्त्तिमंत करने के लिए उतावला व अत्यन्त बेचैन हो उठे, यहाँ तक कि व्यावहारिकता को लात मार कर, मन ही मन ज़मीन-आसमान के कुलावे मिलाने लगे, विषम परिस्थितियों से न जूझ कर अपनी मनोरम कल्पना के जगत में ही विचरते

रहने में संतोष करले, अथवा वर्तमान पर सदा ही नाक-भौं सिकोड़कर भविष्य-निर्माण की साधना को भुला बैठे, तभी कल्पना हवाई है, और हवाई कल्पना के आधिपत्य में व्यक्ति धरती पर न चल कर हवा में उड़ता है और उसका परिणाम अंततः यही होता है कि व्यक्ति का आदर्श हवा हो जाता है और व्यवहार शून्य बन जाता है। इस तरह कल्पना के लिए आदर्शवाद में स्थान तो मिलना ही चाहिए, अथवा आदर्शवादी दृष्टि के लिए कल्पना की परम आवश्यकता है ही, पर यह ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है कि कल्पना बेसिर-पैर की, प्रकृति के नियमों के विरुद्ध, नैसर्गिक मानवीयता के प्रतिकूल, मानव के मौलिक स्वभाव से बे-मेल, विवेक-बुद्धि द्वारा असम्मत, तथा अटपटी न होना चाहिए।

प्रश्न—क्या आपका यह आशय है कि कल्पना का विषय वही होना चाहिए जो प्राप्य है ?

उत्तर—जब हम कहते हैं कि कल्पना अटपटी या हवाई न होना चाहिए तब इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका विषय कोई ऐसी ही मंज़िल होना चाहिए जिस तक हम पहुंच सकें। हम आदर्श समाज की अथवा समाज की एक ऐसी आदर्श सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं, जिसके अंतर्गत मानवता एक और अखण्ड हो, सभी समान हों, न कोई छोटा हो, न बड़ा हो, जाति-पांति, वर्ण, नस्ल आदि के अमानवीय भेद-भाव सर्वथा अमान्य हों, साम्प्रदायिकता व प्रादेशिकता को लेकर द्वेष, ईर्ष्या या अहंकार नाम मात्र को न हो, राष्ट्रीयता मानवता की अविरोधी, वरन् सहायक हो, नर-नारी-समभाव पूर्ण हो, न कोई शोषक हो, न शोषित हो, पूँजीवाद या परिग्रहवाद के

करुण दृश्य ढूँढ़ने पर भी न मिलें. रोग, मरी, दुर्भिक्ष, बेकारी, बेरोज़गारी, ग़रीबी, कंगाली, ये सब वहां ज़रा भी न हों, वर्ग-युद्ध अथवा राष्ट्रों के आपसी संघर्ष व युद्ध न हों, बल्कि समस्त विश्व एक ही संगठित राष्ट्र हो, चारों ओर न्याय, नीति व समानता का साम्राज्य हो। और, ऐसी कल्पना को दृष्टिगत रखते हुए पूंजीवाद अथवा आर्थिक विषमता को मिटाने का, समाज की कुरीतियों व अन्ध विश्वासों को मिटा कर नए सिरे से सुव्यवस्थित करने का, किसी तरह की विषमता लाने वाले क़ानूनों को हटा कर सर्वांगीण समानता स्थापित करने का, अथवा भूतल पर ही स्वर्ग लाने का प्रयास करते हैं, तो यह उचित व वांछनीय ही है। कौन कह सकता है कि ऐसी कल्पना अटपटी है, बेढंगी है, निरर्थक है ? यह कल्पना हवाई नहीं है क्योंकि वह समाज-नवनिर्माण के पथ पर आगे बढ़ने की सजीव प्रेरणा देती है, परिवर्तन या क्रान्ति का दिव्य संदेश देती है, व्यवहार को प्रभावित कर जीवन को बदलती है, समाज को बदलती है। इस तरह हम देखते हैं कि कल्पना का विषय अप्राप्य होकर भी आदर्श की चीज़ बन सकता है। हम जानते हैं कि संसार में दुख सदैव रहेगा, तो क्या हम अपने आदर्श समाज में दुखों का दौरदौरा मानें ? दुनिया में सदैव कम ज्यादह या किसी न किसी रूप में वेश्याएँ रहेंगी तो क्या हम वेश्यावृत्ति के पूर्ण विनाश का जो आदर्श लिए बैठे हैं, उसे छोड़ दें ? दुनिया में चोरी, झूठ, हिंसा व व्यभिचार का व्यापार होता रहेगा तो क्या हम अपने आदर्शों की दुनिया में असत्य, अचौर्य, हिंसा व व्यभिचार की व्याप्ति मान लें ? नहीं। कल्पना-जगत का आदर्श परम भव्य होना ही चाहिए। हां, वह प्रेरणादायक, स्फूर्तिदाता, तथा जीवन-पथ पर चलने वाले पथिक के लिए मार्ग-प्रदर्शक हो, अथवा ऐसा आदर्श जीवन-पथ की मंज़िल हो जिसकी ओर देखते हुए पथिक आगे बढ़े, निरन्तर आगे

बढ़ता रहे। वास्तव में जीवन-पथ पर चलने वाला मंज़िल की ओर बढ़े और कितना ही आगे बढ़ जाय, फिर भी मंज़िल दूर रहे, कल्पनामयी भव्य आदर्श यही चाहता है और इसमें जीवन की गतिशीलता व आत्मोन्नति का मूल है ही।

प्रश्न—कल्पना-जन्य अप्राप्य आदर्श को भी आदर्शवाद में स्थान है तो ऐसे आदर्शवाद से मध्यम-मार्ग की कैसी संगति ?

उत्तर—जहाँ हमने मध्यममार्गी दृष्टि की बात कही थी वहीं हमने यह स्पष्ट कर दिया था कि "मध्यममार्ग का यह अर्थ नहीं है कि आदर्श गिराया जाय। आदर्श अपने उच्चतम स्थान पर रहे और मनुष्य सदैव उससे सत्प्रेरणाएँ ग्रहण करता रहे, मनुष्य के विकास के लिए यह अनिवार्य है। आदर्श को लेकर समझौता करने की दब्बू नीति यहाँ नहीं है। हाँ, यहाँ आदर्श को इतना ऊपर उठाने का निषेध अवश्य है कि वह आदर्श दृष्टि से ही ओझल हो जाय।" इस तरह मध्यममार्ग और आदर्शवाद में कोई मौलिक अन्तर या अंतःविरोध नहीं है। पथिक अपने पथ पर दृढ़ता व स्थिरता के साथ एक-एक क़दम बढ़ाते हुए सीधे रास्ते पर चले, यह है मध्यम-मार्ग और एक-एक क़दम बढ़ाते हुए भी दूर या अनन्त में स्थित मंज़िल—कल्पना-जन्य आदर्श, चाहे वह अप्राप्य ही हो—पर सदैव उसकी दृष्टि रहे, या उसका अन्तिम लक्ष्य सदैव ही उसके मानस-नेत्रों के सन्मुख रहे, यह है आदर्शवाद। ये दोनों ही कहाँ बेमेल हैं ? बल्कि ये दोनों एक दूसरे को शक्ति देते हैं, एक दूसरे को संभालते और पूर्ण बनाते हैं। फिर, मध्यममार्ग स्वयं ही एक आदर्श है और संभवतः वह भी ऐसी कल्पना है जो अप्राप्य है, या पूर्णतया

प्राप्य नहीं है। मध्यममार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। जीवन में संतुलन लाना एक बड़ी साधना है। मनुष्य की सहज कमज़ोरी है कि वह अति की ओर जाता है, ठीक मध्य में रहना उसके लिए अति दुष्कर बल्कि असाध्य है, चाहे लक्ष्य उसका यही हो जैसा कि होना चाहिए कि वह मध्य बिन्दु पर स्थित हो और उससे विचलित न हो। जिसे हम साधारणतः मध्यममार्गी आचरण मानते हैं, उसमें भी अति छिपी होती है। वास्तव में ठीक-ठीक मध्यममार्ग पर चलना भी एक कल्पना का ही विषय है।

इक्कीस सूत्र—

हमने विस्तार-पूर्वक सम्यक्‌दर्शन या सत्य-दृष्टि का जो विवेचन अब तक किया है, उससे हम सूत्र-रूप में निम्न परिणामों पर पहुँचते हैं—

(१) सत्य ही कल्याणकारी है, असत्य की कल्याणकारिता एक भ्रम है, धोखा है।

(२) अपने विचारों में पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी उनमें भूल या ग़लती की सम्भावना न मानना या अपने को भूलों से परे समझना मिथ्या अहंकार है।

(३) कोई मत या विचार असत्य दिखे तो उसे त्याग देना चाहिए, भले ही उसकी जगह लेने वाला कोई विचार सन्मुख न हो। ख़ाना भले ही ख़ाली रहे, पर बेढंगे रंगों से उसे भरना ठीक नहीं है। अनुसंधान, खोज, अध्ययन व चिंतन का मार्ग प्रशस्त रखना आवश्यक है।

(४) व्यक्ति को विशाल, बल्कि विश्व-व्याप्त, दृष्टि से ही हर छोटी-बड़ी समस्या पर विचार करना चाहिए।

(५) निज-हित पर-हित का, निवृत्ति व प्रवृत्ति का, तथा व्यक्ति और समाज का, सामंजस्य विचार-दृष्टि की पृष्ठ-भूमि में होना आवश्यक है।

(६) वर्तमान की या किसी भी युग की समस्या या घटना पर विचार करते हुए या उसका मूल्यांकन करते हुए अथवा भविष्य-निर्माण के प्रश्न पर विचार करते हुए दृष्टि के आगे महाकाल होना चाहिए।

(७) नवीनता के उन्माद अथवा प्राचीनता के मोह से बचते हुए समीचीनता या सामयिक उपयुक्तता का ही विचार करना चाहिए, और तदनुसार समयोचित परिवर्तन करने में संकोच या द्विविधा न होनी चाहिए।

(८) समभाव विचार-दृष्टि को निर्मल बनाए रखने के लिए परम आवश्यक है। व्याप्त सहृदयता, निष्पक्षता, तटस्थता, सहानुभूति व आत्मीयता तथा मोह व द्वेष का निराकरण, समभाव के आधार-मूलक तत्व हैं।

(९) समन्वय का आधार सत्य हो, तथा समन्वय सत्यासत्य के बीच नहीं, सत्यांशों के बीच हो, तभी वह उपादेय है, अन्यथा हेय है।

(१०) नर-नारी-समभाव प्रकृति-सम्मत सत्य है। उसके बिना समभाव अपूर्ण है, सदोष है।

(११) भय और प्रलोभन के आधार पर सदाचार को टिकाना बालू की नींव पर महल खड़ा करने का निष्फल प्रयास करना है। मनुष्य के ही स्वभाव में तथा व्यक्ति व समाज के जीवन में सदाचार के मौलिक कारण विद्यमान हैं।

(१२ बुद्धि-विवेक का आत्म-विश्वास-पूर्ण उपयोग करते हुए, शब्द-प्रमाणवाद के चंगुल से बचे रह कर, तथा महापुरुषों व

मनीषियों के वचनों या उपदेशों को तथा शास्त्रों के कथनों को प्रतिष्ठित गवाह के रूप में मान देते हुए, खुली दृष्टि से, पर 'स्व' में अहंकार रखे बिना, विचार करने का मार्ग श्रेष्ठ है।

(१३) बुद्धि-विवेक के उपयोग में तर्क व श्रद्धा का सामंजस्य हो, यह उचित ही है। न तर्क को इतना अधिक मूल्य मिले कि वह कुतर्क बन जाए, न श्रद्धा को इतना मान मिले कि वह अंधश्रद्धा में परिणत हो जाए, यह सतकता बहुत आवश्यक है।

(१४) सांगोपांग विश्लेषण द्वारा सर्वांगीण चित्रण, अधिकाधिक अपेक्षाओं व दृष्टि-कोणों से वस्तु-विचार, दूसरों के हृदयों में बैठ कर उनकी अनुभूतियों के साथ तादात्म्य-स्थापना, सापेक्षवादी विचारणा के मौलिक तत्व हैं।

(१५) ऐतिहासिक व तुलनात्मक अध्ययन की संयुक्त वैज्ञानिक प्रक्रिया वस्तु-विचार के लिए नितान्त आवश्यक है।

(१६) रबड़ की तरह शब्दों की या उनके अर्थों की खींचातानी से समन्वय का प्रयास करना छल है, शब्द-जाल मात्र है।

(१७) अति से बचते रह कर मध्यम-मार्ग पर चलना और वहीं आदर्श की प्रेरणा पाना श्रेष्ठतम है।

(१८) आँखों के आगे सदैव आदर्श या अपने रास्ते की मंज़िल रहे जो थकने पर हिम्मत दिलाए, निराश होने पर आशा का संचार करे, गिरने पर संभाले, यह बहुत आवश्यक है। साध्य कभी आँखों से ओझल न हो।

(१६) आदर्श स्पष्ट तथा बुद्धि-विवेक-सम्मत होना चाहिए, वह हवाई या अटापटा न होना चाहिए, अनुकरण व मार्ग-गमन की प्रेरक सामग्री उसमें होनी ही चाहिए।

(२०) कल्पना और आदर्श में कोई अन्तः विरोध नहीं है, बल्कि दोनों की मैत्री है। पर आदर्श कल्पना की संगति से न बिगड़े इसके लिए आवश्यक है कि कल्पना सजीव हो, सक्रिय हो, सविवेक हो, सुन्दर हो।

(२१) आदर्श और व्यवहार में समन्वय हो, बल्कि दोनों एक रूप हों, व्यवहार सदैव आदर्शोन्मुखी हो और आदर्श सदैव व्यवहार का प्रेरक व मार्ग-प्रदर्शक हो।

मूल प्रश्न—उक्त सूत्रों में फेरफार कर सूत्रों की संख्या में हम वृद्धि व कमी कर सकते हैं। यही नहीं, जिन तीन मूढ़ताओं व छह लक्षणों की हमने विषद् व्याख्या की है, वे भी नपी-तुली नहीं हैं। वास्तव में विषय को समझने के लिए ही यह निरूपण है और इस अपेक्षा से संख्या या नाम को लेकर पक्ष या विपक्ष का आग्रह करने में कोई सार नहीं है। यही दृष्टि देने के लिए कुछ दूसरे ही नाम देकर कम-ज़्यादह मूढ़ताओं व लक्षणों का निरूपण भी किया जा सकता है। मूल प्रश्न यहाँ यही है कि विचार-सरणि कैसी हो, या सोचने-विचारने का तरीक़ा क्या हो? इस प्रश्न का उत्तर देना ही यह बताना है कि सम्यग्दर्शन या सत्य-दृष्टि क्या है?

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के शास्त्र-प्रणीत अष्टांगों का आपने कोई उल्लेख या संकेत नहीं किया है। क्यों?

उत्तर—मुख्य कारण दो हैं। एक तो यह कि इन अङ्गों के पीछे सम्यग्दर्शन की मान्यता श्रद्धान के रूप में है, जब कि हम ऐसा मानते हैं और विशद् व विस्तृत तात्त्विक विवेचन के उपरान्त सुस्पष्ट भी कर चुके हैं. कि सत्य या सम्यक्त्व की प्रथम श्रेणी के रूप में सम्यग्दर्शन वास्तव में श्रद्धान नहीं, विवेक है। विवेक को ही सत्य-दृष्टि कहा जा सकता है। वही आत्म-स्थित प्रकाश है। उसे मन का उजियारा भी कह सकते हैं। विचारणा, गवेषणा, चिंतन, निरीक्षण, परीक्षण. अनुसन्धान, खोज. मनन, विश्लेषण, विवेचन, दर्शन, कुछ भी कह लीजिए, वह सम्यक् रूप से हो तो वही सम्यग्दर्शन है। निश्चय ही यही सम्यक्त्व का प्रवेश-द्वार है। श्रद्धान या श्रद्धा तो बाद की चीज़ है। पहिले विचार या चिंतन, फिर निर्णय और निर्णीत के प्रति श्रद्धा, यही सम्यक्त्व-ग्रहण का क्रम है। सबसे पहिले व सबसे महत्त्वपूर्ण है दृष्टि की निर्मलता, विचार-भावना की शुद्धि। यह न हो तो चारों ओर अंधकार ही अंधकार है, और फिर अंधेरे में कुछ भी क्यों न हाथ आ जाय, उसका कोई मूल्य या सदुपयोग नहीं है। वहां ठोकरें ही ठोकरें हैं सो अलग। पहिले चाहिये रोशनी, फिर ढूँढ़ने वाली नज़रें ढूँढ़ ही लेंगी सार तत्व। यह रोशनी वही है जिसे हमने सम्यग्दर्शन की संज्ञा दी है। इस तरह यहां मौलिक आधार को लेकर ही मतभेद है। दूसरा कारण यह है कि इन अष्टांगों में श्रद्धान की मर्यादा का भी अतिक्रम हो गया है और इस तरह सम्यग्दर्शन को श्रद्धान मान कर भी यहाँ अन्तर-वैषम्य है। उपगूहन, स्थितिकरण व प्रभावना, ये तीनों अंग किसी भी तरह

श्रद्धान क अंतर्गत नहीं आ सकते। वे तो चरित्र या सम्यक्चारित्र्य के विषय हैं या हो सकते हैं। यह ठीक है कि श्रद्धान होगा, तभी उपगूहन होगा, तभी स्थितिकरण किया जायगा और तभी प्रभावना की जा सकेगी, पर यह तो कार्य-कारण सम्बन्ध है और इस पर से ही उन्हें श्रद्धान के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकेगा। श्रद्धान के बिना आचरण असम्भव है तो क्या आचरण श्रद्धान की ही भीतरी चीज़ है? फिर तो सम्यक्चारित्र अलग न रहेगा, सम्यग्दर्शन में ही समा जायगा, जो नितान्त भ्रमपूर्ण है। इस तरह इन दो कारणों से हमने इन आठ अंगों को कोई प्रधानता नहीं दी है और फिर इन दो प्रधान कारणों से और भी छोटे-मोटे अनेक कारण फूट ही निकले हैं।

प्रश्न—वास्तव में सत्य या सम्यक्त्व एक और अखण्ड तत्व है, अतः इतनी बारीकी से इन अङ्गों का देखना क्या उचित है?

उत्तर—सचमुच सम्यक्त्व एक और अखण्ड है, पर इसे या इसके विषय को ठीक-ठीक समझने के लिए दर्शन, ज्ञान व चरित्र, इन तीन श्रेणियों या अङ्गों में उसे विभक्त किया गया है। इस अपेक्षा से इतनी सावधानी तो होनी ही चाहिए कि भले ही इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखाएँ न खींची जा सकें पर जहाँ तक बन सके, एक दूसरे की सहज विवेक द्वारा सम्मत मर्यादाओं का उल्लंघन न हो, ये एक-दूसरे को न ढकलें, बल्कि अपनी-अपनी जगह ही ये स्थित रहें। ऐसी सतर्कता न रखी जायगी तब इस विभाजन का मूल्य क्या रह जायगा? अतः सम्यग्दर्शन के अङ्गों को लेकर यह

विचार-भेद नितान्त आवश्यक है, अन्यथा विचारों में अराजकता व्याप्त हो जायगी।

प्रश्न—इन अष्टांगों में पहिले चार अंग वैयक्तिक हैं, बाद के चार अंग सामाजिक हैं, इसलिए चारित्र्य के अंतर्गत हों तो ये बाद के चारों ही सामाजिक अंग हों, पर आपने इनमें से तीन को ही चारित्र्य का विषय माना है। क्यों ?

उत्तर—वैयक्तिक या सामाजिक भेदों का यही अर्थ है कि पहिले चार अंग स्वापेक्षित हैं, बाद के चार अंग परापेक्षित हैं, न कि यह कि पहिले चार अंग श्रद्धान का विषय हैं और शेष चार अंग आचरण का विषय हैं। 'स्व' को लेकर श्रद्धान भी हो सकता है और आचरण भी। इसी तरह 'पर' की अपेक्षा से भी श्रद्धान व आचरण दोनों ही हो सकते हैं। यहाँ स्वापेक्षित चार अंगों में आचरण जैसी कोई भी चीज़ नहीं है, चारों ही श्रद्धानमूलक हैं, पर परापेक्षित चार अंगों में यह समता नहीं है। उनमें 'वात्सल्य' भावनामूलक या श्रद्धानमूलक है, शेष तीन—उपगूहन, स्थितिकरण व प्रभावना—आचरणमूलक हैं। इस तरह व्यष्टि-समष्टि की अपेक्षा से इन अष्टांगों के चार-चार अंगों के दो विभाग हैं, पर श्रद्धान-आचरण की अपेक्षा से यहाँ जो दो विभाग हैं, उनमें एक में पांच अंग और दूसरे में तीन अंग हैं।

प्रश्न—आखिर आप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र का क्या क्रम स्थित करते हैं और श्रद्धान को यहां कहां रखते हैं ?

उत्तर—क्रम सीधा-साधा है। पहिले सम्यग्दर्शन या सम्यक् विचार-दृष्टि है ही। फिर, विचार-चिंतन के परिणाम-स्वरूप निर्णय है। वही सम्यग्ज्ञान है। अंत में तदनुकूल आचरण या सम्यक्-चारित्र। देखो, चुनो और फिर उस पर चलो, यही क्रम है। यहाँ जो निर्णय है, निर्णीत के प्रति श्रद्धा उसके साथ ही है। मार्ग-निर्वाचन के अंतर्गत ही श्रद्धा है। इस तरह श्रद्धान सम्यग्दर्शन के साथ जुड़ा है, वह अलग नहीं है। ज्ञान और श्रद्धान, दोनों की उत्पत्ति एक साथ दर्शन में से होती है। सम्यग्दर्शन को श्रद्धान मानने की विचारधारा के अनुसार भी श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) और ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) का उदय एक ही साथ एक ही समय होता है। इस तरह जहां तक क्रम का सम्बन्ध है, यहाँ भी यही क्रम है—दर्शन······ ज्ञान······चारित्र। बस, अन्तर इतना ही है कि यहाँ श्रद्धान दर्शन के आसन पर नहीं बैठा है, वह ज्ञान में ही समाया हुआ है।

प्रश्न—क्या ज्ञान व श्रद्धान चिर-संगी हैं?

उत्तर—नहीं, वे तभी संगी हैं। जब ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो, या यूं कहिए कि जब उसके पीछे सम्यग्दर्शन हो। जिस ज्ञान के पीछे सम्यग्दर्शन नहीं है, वह वस्तु-स्थिति की दृष्टि से सत्य या यथार्थ होने पर भी सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता, और उसके प्रति श्रद्धान नहीं हो सकता। हाँ, अंधश्रद्धा हो सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अंधश्रद्धा या अ-विचारानुमोदित श्रद्धा का विषय सम्यक्ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान ही है। अतः कोई व्यक्ति शब्द-प्रमाण-

वाद के आधार पर या परम्परा व संस्कारों के कारण ही किसी
या सिद्धान्त में विश्वास करे तो यहां अंधश्रद्धा है और उसका ज्ञान
मिथ्याज्ञान है। इस तरह यह स्पष्ट है कि ज्ञान का सम्यक् रूप ही
श्रद्धा व विवेकसम्मत श्रद्धा के साथ है, अथवा सम्यक्ज्ञान के
अन्तर्गत ही श्रद्धान व ज्ञान सदा संगी हैं।

दर्शन-विशुद्धि—

दृष्टि मूढ़ताओं से मुक्त तथा सम्यग्दर्शन के लक्षणों से युक्त हो,
यही दर्शन-विशुद्धि या सम्यग्दर्शन की अवस्था है, जहाँ सर्वत्र प्रकाश
है, आत्मसंतोप है। यहां जीवन-ज्योति सदा ही जगमगाती रहती है और
विवेक के नेत्र कभी नहीं मुँदते हैं। यहाँ दृष्टि निर्मल है, मार्ग सुस्पष्ट
है। कुछ निश्चित विचारों की अपेक्षा या उनका आग्रह यहाँ कदापि
नहीं है। यहाँ प्रतिष्ठित है सच्चाई, ईमानदारी और नेक-नियती।
इस तरह सम्यग्दर्शन एक सतत् प्रवाहशील व प्रगतिशील विचार-
धारा है जिसमें रहने वाला ज्ञान-रूपी जल सदैव शुद्ध, पवित्र,
स्वास्थ्यप्रद व अमृतमयी है, परम हितकारी व कल्याणप्रद है। उस
विचारधारा की गंगा में सच्चे हृदय से नहाना ही सम्यक्चारित्र है
जो जीवनोत्कर्ष की कुंजी है। सम्यग्दर्शन को श्रद्धान मानना अथवा
श्रद्धा या भक्ति मानना भ्रमपूर्ण है। सत्य-दृष्टि ही सम्यग्दर्शन है।
इसके बिना ज्ञान व चारित्र का कौड़ी बराबर भी मूल्य नहीं है।
भक्तियोग, ज्ञानयोग व कर्मयोग, ये तीनों ही योग निरर्थक हैं, यदि

इनके साथ सम्यग्दर्शन का दृष्टियोग नहीं है। यह दृष्टियोग योगराज है जिसके बिना योग-साधना एक विडम्बना मात्र है। सम्यग्दर्शन या सत्य-दृष्टि के बिना श्रद्धा या भक्ति, चारित्र या कर्म, सब व्यर्थ हैं। सम्यग्दर्शन ही सर्व-प्रधान है। यह एक अमूल्य संपदा है, एक चिर-सजीव जीवन-दर्शन है, आत्म-दर्शन है, और इस दर्शन की विशुद्धि ही परम आदर्श है, परम श्रद्धेय है, वही आत्म-निमज्जन व आत्मोन्नति का मूलाधार है।

इनके साथ सम्यग्दर्शन का दृष्टियोग नहीं है। यह दृष्टियोग योगराज है जिसके बिना योग-साधना एक विडम्बना मात्र है। सम्यग्दर्शन या सत्य-दृष्टि के बिना श्रद्धा या भक्ति, चारित्र या कर्म, सब व्यर्थ हैं। सम्यग्दर्शन ही सर्व-प्रधान है। यह एक अमूल्य संपदा है, एक चिर-सजीव जीवन-दर्शन है, आत्म-दर्शन है, और इस दर्शन की विशुद्धि ही परम आदर्श है, परम श्रद्धेय है, वही आत्म-निमज्जन व आत्मोन्नति का मूलाधार है।